# विवेक शिखा

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१८ दिसम्बर—१९९९ अंक—१२

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

# विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१७३. डॉ० विनया पेण्डसे, उदयपुर (राजस्थान)
१७४. सन्तोष बोनी, रामवन (जम्मू एवं कश्मीर)
१७५. श्री राजोभाई बी० पटेल, सूरत (गुजरात)
१७६. श्री प्रकाश देवपुरा—उदयपुर (राजस्थान)
१७७. श्री एस० के० मुन्दरा, जामनगर (गुजरात)
१७८. डॉ० मोहन बन्सल, आनन्द (गुजरात)
१७९. अडकिया कन्सलटेन्ट्स, प्रालि० मुम्बई
१८०. सुश्री एस० पी० त्रिवेदी—रोजकोट (गुजरात)
१८१. अद्वैत आश्रम, मायावती—(उ० प्र०)
१८२. श्री शत्रुघ्न शर्मा, फतेहाबाद—(बिहार)
१८३. रामकृष्ण मिशन, शिलांग—(मेघालय)
१८४. श्री त्रिभुवन महतो, राँची—(बिहार)
१८५. रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची—(बिहार)
१८६. श्री आर० के० चोपड़ा, इलाहाबाद—(उ० प्र०)
१८७. श्री श्यामनन्दन सिंह, राँची—(बिहार)
१८८. श्री डी० आर० साहू, रायपुर—(म० प्र०)
१८९. रामकृष्ण मिशन स्कूल, नरोत्तमनगर (अरुणाचल प्र०)
१९०. रामकृष्ण मिशन हॉस्पिटल, इटानगर (अरु० प्र०)
१९१. रामकृष्ण मिशन स्कूल, अलांग (अरु० प्र०)
१९२. श्री घनश्याम चन्द्राकर, औंधी (म० प्र०)
१९३. श्री भास्कर मढ़रिया, भिलाई (म० प्र०)
१९४. स्वामी विरन्तनानन्द, रा.कृ.मि.नरोत्तमनगर (अ.प्र.)
१९५. श्री हरवंश लाल पाहडा, जम्मूतवी (कश्मीर)
१९६. श्री योगेश कुमार जिन्दल, विवेक बिहार (दिल्ली)
१९७. डॉ० अखिलेश अग्रवाल—रुड़की, (उ० प्र०)
१९८. श्री अनिल कु० पूनम चन्द जैन—नागपुर (महा०)
१९९. डॉ० शीला जैन—बीकानेर (राजस्थान)
२००. श्री डी० एन० देशमुख—चन्द्रपूर (महाराष्ट्र)
२०१. श्री योगेश कुमार थलिया—नवलगढ़ (राजस्थान)
२०२. रामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम—अम्बिकापुर (म.प्र.)
२०३. श्री ओम भक्त बुदाथोपी—डाँग (नेपाल)
२०४. श्री ए० डी० भट्टाचार्य—भद्रकाली (प० बं०)
२०५. हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा
२०६. श्री दीपक कुमार विद्यार्थी—काराधीक्षक, गिरिडी

## इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो।

# विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की हिन्दी मासिकी

वर्ष—१८ दिसबम्र—१९९९ अंक—१२

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'।।

सम्पादक :
डा० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक :
ब्रजमोहन प्रसाद सिन्हा

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा—८४१३०१
( बिहार )
फोन : ०६१५२-२२६३९

सहयोग राशि :

| | |
|---|---|
| आजीवन सदस्य— | ७०० रु० |
| वार्षिक— | ५० रु० |
| रजिस्टर्ड डाक से | ६५ रु० |
| एक प्रति— | ५ रु० |

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

## श्रीमाँ सारदा देवी ने कहा है

☐ "कोई वस्तु कितनी ही छोटी क्यों न हो, पर उसकी अवमानना नहीं करनी चाहिए। अगर तुम किसी वस्तु का सम्मान करोगे तो उसके द्वारा तुम्हें भी सम्मान मिलेगा। छोटे से छोटा काम भी सम्मानपूर्वक करना चाहिए।

☐ "पति कहो, पुत्र कहो, शरीर कहो—सब माया है। ये सब माया के बन्धन हैं।..... "देह भला क्या है, बेटी, मुट्ठी भर राख ही तो! उसका फिर क्या गर्व करना! कितनी भी बड़ी देह हो, जलाने के बाद डेढ़ सेर राख ही तो बचती है। फिर भी लोग उसके प्रति कितने आसक्त हैं!

☐ "यदि शान्ति चाहो, बेटी, तो किसी का दोष मत देखना। दोष देखना अपना। संसार को अपना बना लेना सीखो। कोई पराया नहीं है बेटी, यह सारी दुनिया तुम्हारी अपनी है।

☐ "अपने मन का सारा भार ठाकुर को सौंप दो। तुम उनके सामने अपने कष्टों को बताते हुए रोओ। तुम देखोगे कि वे तुम्हारी झोली तुम्हारी इच्छित वस्तुओं से भर देंगे।

—श्री माँ सारदा देवी

# श्रीसारदाप्रपत्तिः

—स्वामी हर्षानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, बंगलोर

ओंकारवेद्यस्य परात्परस्य
श्रीरामकृष्णस्य पराऽस्य शक्तिः ।
सा मे गतिर्मुक्तिफलं च तस्याः
श्रीसारदायाश्चरणौ प्रपद्ये ॥१॥

रमा त्वमेवासि शिवा च वाणी
दासोऽस्मि नित्यं भवरोगयुक्तः ।
देवात्मशक्तेर्जगदुद्भवायाः
श्रीसारदायाश्चरणौ प्रपद्ये ॥२॥

त्र्यैकारयुक्तं परमं च मन्त्रं
नवैश्च वर्णैर्घटितं पठेद्यः ।
मोहात्प्रमुच्येत नरः स यस्याः
श्रीसारदायाश्चरणौ प्रपद्ये ॥३॥

---

भावार्थ :—मैं श्रीसारदा देवी के श्रीचरणो में आश्रय लेता हूँ जो श्रीरामकृष्ण देव की पराशक्ति हैं, जो महत्तम से भी महत्तर परात्पर है तथा वह सत्य हैं जिसे ओम् (प्रणव) के द्वारा जाना जा सकता है । वे मेरे जीवन की गति (लक्ष्य) हैं तथा मेरी मुक्ति के फल हैं ।१।

मैं श्रीसारदा देवी के श्रीचरणों में आश्रय लेता हूँ जो ईश्वर की आत्मशक्ति हैं, विश्व के सृजन की कारण हैं । हे माँ सारदा, आप ही महालक्ष्मी, महाकाली (पार्वती) और महा सरस्वती हैं । मैं, जो भवरोग ( जन्म-करण के बन्धन ) से ग्रस्त हूँ, आपका नित्य दास हूँ ।२।

जिनके परम नौ अक्षरों से युक्त मंत्र, ॐ श्रीसारदा देव्यै नमः, जिसके 'ऐ' अक्षर है, के जपने से मनुष्य समस्त मोहों से मुक्त हो जाता है, उन श्रीसारदा देवी के श्रीचरणों में आश्रय लेता हूँ ।

सम्पादकीय सम्बोधन

# विश्वमाता श्रीसारदा देवी

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

इक्कीसवीं शताब्दी हमारे दरवाजे पर दस्तक दे रही है। केवल तीन दिन बचे हैं। चौथे दिन इस सहस्राब्दी की अन्तिम शताब्दी का आगमन हो जाएगा। आज २६ दिसम्बर है। विश्व माता श्रीसारदा देवी का अवतरण-दिवस। तीन रातें शेष हैं—नयी शताब्दी के आने में। इन तीन रातों में आगत शताब्दी मानो श्री माँ के स्नेहांचल की शीतल छाया में सुषुप्त भाव से पड़ी रहेगी। मानो, तीन रातों तक श्री माँ का स्नेहाशीर्वाद प्राप्त कर ही विश्व-पटल पर अवतीर्ण होगी।

ऐसा क्यों ? मुझे लगता है, अनगिनत समस्याओं को अपने कंधों पर लेकर ही इक्कीसवीं सदी विश्व के मंच पर उतरनेवाली है। विकसित देश विकासशील देशों को मनचाहे डंडों से हाँकना चाहते हैं। उनकी दादागिरी से अविकसित देश त्रस्त हैं। कहीं लोकतन्त्र अपनी खूबियों की अपेक्षा अपनी विकृतियों को उभारकर जन-मन में भय, संत्रास और निराशा का जाल बुन रहा है, कहीं आतंकवाद निरीह नर-नारियों के जान-माल से खेल रहा है। कहीं तानाशाही सिर उठा रही है तो कहीं सामाजिक-आर्थिक विषमता ने समाज को तबाह कर रखा है। सम्पन्न देशों में आत्महत्या का सिलसिला शीर्ष पर है और आत्महत्या के आसान नुस्खे पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं तो कहीं, हिंसा, शोषण-दोहन और उद्दंडता तथा पापाचार का बाजार गर्म है। एक ओर वैश्वीकरण ने देशों को आपस में जोड़ा है तो दूसरी ओर इसने लोगों को भीतर से तोड़ा भी है। विभिन्न संस्कृतियों की टकराहट से उपजी एक नयी अपसंस्कृति नयी पीढ़ी को दिग्भ्रान्त कर रही है और हम लक्ष्यहीन, दिशाहीन पथहारे यात्री की भाँति अपनी ही गली में भटकने लगे हैं। ऐसे में हमें एक छाँह की आवश्यकता है, एक विश्वमाता की जरूरत है जो सबको अपनी समरसता के आँचल में भर कर एक तृप्ति, एक आश्वस्ति, एक अभय प्रदान कर सके।

महाकवि-बिहारी का एक बड़ा मनोरम दोहा है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सों कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥

अर्थात् साँप और मयूर तथा मृग और बाघ एक साथ नहीं रह सकते। मयूर साँप को खा

जाता है और मृग बाघ का आहार है। ये एक साथ नहीं रह सकते। कभी नहीं रह सकते। परन्तु बैशाख-जेठ की असहनीय गर्मी के कारण ये सब एक स्थान पर रहने लगे हैं, एक विशाल अश्वत्थ वृक्ष की शीतल-सुखद छाँव में। इस वृक्ष ने मानो तपोवन का रूप धारण कर लिया है। गर्मी के भीषण ताप संताप ने संसार को तपोवन को तलाश कर एक साथ मैत्री, करुणा और मुदिता के भाव से रहने को विवश कर दिया है।

संसार आज ताप-तप्त है। हम वैश्वीकरण की ओर बढ़ रहे हैं। पीछे नहीं लौट सकते हम। लेकिन हमें एक ऐसे वट-वृक्ष की आवश्यकता है जिसकी शीतल-स्निग्ध छाया में हम एक साथ रह सकें और शान्तिपूर्वक रह सकें। तकनीकी और प्रौद्योगिक प्रगति, भौतिक विज्ञान एवं अन्य विज्ञानों की प्रगति तथा संचार माध्यमों की प्रगति ने हमें तेजी से वैश्वीकरण की ओर ढकेल दिया है। लेकिन यह एकांगी प्रगति है। मनुष्य केवल दैहिक, भौतिक यांत्रिक विकास से ही पूर्ण नहीं हो सकता। उसे वास्तविक तृप्ति, शान्ति, सुख और धन्यता के लिए चाहिए भावात्मक विकास भी, वैचारिक विकास भी, आत्मिक विकास भी। तभी हम सही-सही वैश्वीकरण की ओर बढ़ सकेंगे। जहाँ विश्व एक नीड़ की तरह हो सकेगा जिसमें हम सभी एक साथ परस्पर प्रेम और सहानुभूति के साथ रह सकेंगे।

ऐसे अवसर पर हमें श्री श्री माँ सारदा का पुण्य-पावन स्मरण हो आता है। वे अपने आप में एक विश्व-नीड़ हैं। उनके विराट् व्यक्तित्व के विशाल स्नेहांचल में सारा विश्व आत्मसंस्य होकर अभय-भाव से निवास कर सकता है। इस आंचल की छाँह में जाति और धर्म, ऊँच और नीच, धनी और गरीब, देश और विदेश—समस्त भेदों की, विषमताओं की दीवार ढह जाती है और रह जाती है केवल एक माँ, एक विश्वमाता यानी अनन्त प्रेम, अनन्त करुणा, अनन्त प्रेम, अनन्त अभय की एक ब्रह्मवारि-धारा जिसमें सारा विश्व आप्लावित हो रहा है।

आप सब जानते हैं, अमजद मुसलमान था और डाकू था। यानी विधर्मी और असामाजिक चरित्र का अपावन व्यक्ति। और स्वामी सारदानन्द जी थे विश्वविरागी, ज्ञानी-ध्यानी, सिद्धहस्त लेखक और भगवान श्रीरामकृष्णदेव के नित्य लीला पार्षद, परम संत। किन्तु श्री माँ सारदा की दृष्टि में दोनों उनके एक समान बेटे थे। दोनों उनकी अपार्थिव स्नेह-सुधा के समान हकदार, समान दावेदार और समान प्राप्तिकर्त्ता। साधु-असाधु का भेद यहाँ गल जाता है। संसार है तो यहाँ दोनों रहेंगे, साधु भी और असाधु भी। और माँ—वास्तविक माँ, सही-सही माँ सारदा देवी दोनों को अपने स्नेह के गंग-जल से समान रूप से अभिषिक्त करती रहेंगी।

कलकत्ते के एक धनाढ्य मारवाड़ी सेठ लक्ष्मीनारायण दस हजार रुपये लेकर श्री माँ के श्रीचरणों में निवेदित करने आते हैं। माँ इन रुपयों को अस्वीकार करती हैं परन्तु लक्ष्मीनारायण को

पुत्रवत् स्नेह प्रदान करती है। और एक स्टेशन पर एक कुली आता है—माँ-माँ पुकारता हुआ। माँ तुरन्त उसे वहीं, बिना किसी ताम-झाम के, दीक्षा देती हैं। धन्ना सेठ लक्ष्मी नारायण और महादरिद्र कुली माँ के समान पुत्र हैं। कोई भेद नहीं। कोई पक्षपात नहीं। कोई आकर्षण नहीं, कोई विकर्षण नहीं।

माँ का जन्म दिन है। सुबह से दर्शन देते-देते थक गयी हैं। ज्ञान महाराज कुछ युवा भक्तों को लेकर आते हैं—माँ का दर्शन करने। किन्तु सेवक आदेश देते हैं—अब कोई नहीं मिलेगा। किन्तु, माँ ने यह सुनकर सब को बुला लिया। उन्हीं युवकों में एक युवक था विजयचन्द्र। उसने भी माँ के चरण स्पर्श किये। कालान्तर में यह युवक रामकृष्ण मठ और मिशन के बारहवें अध्यक्ष बने—श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज। और श्रीमाँ रुग्ण हैं। स्वामी सारदानन्द जी महाराज किसी को माँ के पास जाने नहीं देते। तभी बम्बई (अब मुम्बई) से एक व्यक्ति आता है। पारसी। फिल्म अभिनेता। उसे भी रोका जाता है। माँ यह सुन लेती हैं। उसे तुरन्त बुलाती हैं। मंत्र देती हैं। वह व्यक्ति तृप्त हो जाता है। दोनों एक दूसरे की भाषा तक नहीं समझते। परन्तु माँ स्नेह बरसाने से बाज नहीं आतीं। और सन्तान तृप्त होकर अघाने से थकती नहीं। यह अभिनेता था सोहराब मोदी। माँ के स्नेह में भाषा का भेद ढह जाता है। विजय-चन्द्र (ब्राह्मण कुमार)—कालान्तर में स्वामी भूतेशानन्द और सोहराब मोदी (पारसी) दोनों के लिए माँ के स्नेहांचल में समान स्निग्ध स्थान है।

माँ के चरणों का स्पर्श निर्बाध पाकर इंगलैंड की मिस मार्गरेट नोबुल (भगिनी निवेदिता) श्री माँ का प्यारी खुकी (बेटी) बन जाती है। अमेरिका की मिस मेक्लॉयड एवं अन्य विदेशी महिलाएँ माँ का वैसा ही स्नेह पाती हैं जैसा भारत की गोलाप माँ, गौरी माँ आदि। देश-विदेश का भेद, आर्य-म्लेच्छ का भेद माँ के पतितपावन आँचल में स्वतः गल जाता है।

एक गृहस्थ युवक श्री माँ से कहता है : 'माँ, सचमुच मैंने इतने बुरे काम किये हैं कि लज्जा के मारे तुम से भी नहीं कह सकता हूँ। फिर भी तुम्हारी दया के बल पर ही हूँ।' माँ कहती हैं—'माँ के पास लड़का लड़का ही है।' किसी ऐसी ही सन्तान के प्रति माँ ने कहा था—'मेरा बच्चा यदि बदन में धूल-कीचड़ लगा ले, तो मुझे ही तो उसे झाड़-पोंछकर गोद में उठाना पड़ेगा न ?"

श्रीमाँ के स्नेह ने जाति-वर्ण, दोष-गुण सब का अतिक्रमण कर दिया था। उनके इस सच्चे सार्वभौम स्नेह के प्रभाव में दुश्चरित्रों के जीवन में भी रूपान्तरण हो जाता था। डाकू भक्त हो जाता था और कुलटा कुन्दन की भाँति पवित्र हो जाती थी।

माँ मुसलमान का जूठा पत्तल उठाती हैं, स्नेहपूर्वक उसे भोजन कराती हैं, संथाल बहू के दुःख से रोती हैं, बिल्ली के माथे पर पैर से प्रहार करने पर तड़प उठती हैं, पीड़ित बछड़े को अपने बच्चे की

तरह सहलाती हैं और गंगाराम नामक तोते को नहाती हैं, खिलाती है, और उसके 'मां, ओ मां' कहने पर 'आई, बेटा आई' कहकर दौड़ पड़ती हैं। इसी से रास बिहारी महाराज जब एक दिन मां से पूछते हैं 'तुम क्या सबकी मां हो ? तो फिर मां कहती हैं—'हां'। वे फिर पूछते हैं—'इन जवी-जन्तुओं की भी ?' तो फिर मां कहती हैं—'हां, बेटा इन सब की भी।'

यही है मां का विलक्षण विश्व-व्यक्तित्व; उनकी चेतना का सार्वभौमिक प्रसार। वेद कहते हैं, विद्या दो प्रकार की होती है—परा और अपरा। अपरा भौतिक विद्या को कहते हैं और परा आत्म विद्या को। हमें दोनों विद्याएं जाननी चाहिए। 'द्वे विद्ये वेदितव्यं परा एव अपरा च।' अपरा अल्पता की विद्या है, भेद की विद्या है, द्वैत की विद्या है। परा भूमा की विद्या है, अभेद की विद्या है, अद्वैत की विद्या है। जहां कुछ अन्य देखते हैं, अन्य सुनते हैं, अन्य जानते हैं वह अल्पता है। जहां कुछ अन्य नहीं देखते हैं, अन्य नहीं सुनते हैं, अन्य नहीं जानते हैं वह भूमा है। और 'भूमैव सुखम् नाऽल्पम् सुखमस्ति' भूमा में सुख है, अल्पता में नहीं। श्री मां इसी परा विद्या की प्रतिमूर्ति थीं, भूमा की भुवन मोहिनी माता थीं, वैश्वीकरण की विग्रह थीं। उनका विश्व-व्यक्तित्व था। वह विश्व के साथ एकमेक हो गयी थीं, एकात्म हो गयी थीं। वह विश्वमाता हो गयी थीं।

आज हम केवल भौतिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विस्तार से केवल अपने भौतिक स्वरूप का विकास तो कर रहे हैं पर यह हमारा एकांगी विकास है। हमें अपना आत्मिक विकास भी करना होगा। अपनी चेतना को विश्व चेतना से एकाकार करना होगा। विश्वमाता श्री सारदा देवी के जीवन से हम विश्वमानवता के साथ एकात्म होने की कला और विज्ञान को जान सकते हैं और एक अखण्ड शाश्वत सुख के संसार में प्रतिष्ठित हो सकते हैं।

विश्वमाता श्री सारदा देवी से मेरी प्रार्थना है कि वे हमें आत्मिक विकास के द्वारा वैश्वीकरण या भूगोलीकरण की ओर अग्रसर होने में सहायता प्रदान करने की कृपा करें। जय, विश्वमाता श्रीसारदा देवी की जय !

□

---

साधना एकान्त में करनी चाहिए। जब पौधा नया रहता है तब उसके चारो ओर घेरा बनाना जरूरी है। लेकिन जब वह बढ़कर बड़ा हो जाता है तो उसे जानवर नहीं चर सकते। इसी प्रकार कुछ साल ध्यान करने के बाद मन गढ़ जाता है। तब तुम कहीं भी रह सकते हो और किसी भी व्यक्ति के साथ उठ-बैठ सकते हो। तब मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

—श्रीमां सारदा देवी

२६ दिसम्बर : माँ शारदा की जन्मतिथि पर

# पिताजी, मैं आपकी बेटी हूँ

—स्वामी निखिलेश्वरानन्द
सचिव
रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर

तेलोभेलो का यह भयंकर मैदान। दिन में भी कोई अकेला इस अति निर्जन मैदान में जाने का साहस नहीं करता था। उन भयंकर दिनों की याद में अभी तक 'तेलोभेलो' के इस मैदान में काली की एक विकराल मूर्ति है जिसे 'डाकुओं की काली' के नाम से जानते हैं। क्योंकि डाकू लुटने जाने से पहले इस मूर्ति की अराधना करते थे। नाम सुनकर ही सब डर जाते थे ऐसे भयंकर स्थल से श्रीमाँ सारदा देवी गाँव की कितनी ही स्त्रियों के साथ कामारपुकुर से कलकत्ता के लिए जा रही थी। फरवरी, १८७७ की बात है। सूर्य देवता जल्दी-जल्दी अस्त हो रहे थे। सभी को डर लग रहा था कि यदि सूर्य अस्त होने से पहले यह मैदान पार नहीं हुआ तो सभी भयंकर डाकुओं के हाथ पड़ जाएँगे। सभी को चलने की जल्दी थी पर श्रीमाँ सारदा देवी थक गई थीं। वह चल नहीं पा रही थीं इसलिए वह पीछे रह गईं। तीन-चार बार उनके साथी, उनके लिए रुके और उन्हें बार-बार जल्दी चलने के लिए कहने लगे। श्रीमाँ अपने स्वभाव अनुसार दूसरों के कष्ट का विचार करके उन्हें इस भयंकर मैदान को पार करके तारकेश्वर में उनका इन्तजार करने के लिए कहा। जान जाने के डर से सभी संगी-साथी जल्दी-जल्दी आगे चले गए।

थोड़ी ही देर में सांझ ढलने लगी, रात्रि का अंधकार चारो ओर फैलने लगा। मात्र २३ वर्ष की आयु में श्रीमाँ अकेली उस निर्जन मैदान में डरती-डरती आगे चलने लगीं। इतने में तो अंधकार में से एक ऊँचा भयंकर मनुष्य अपनी तरफ आते देखा। खूब काला, गोल-गोल घने बालों वाला, हाथ में लोहे का कड़ा पहने, कंधे पर डंडा रखे वह डाकू देखने में अति भयंकर था। मोटी आवाज में उसने पूछा, "ऐ! इस समय यहाँ कौन है?" श्रीमाँ घबरा कर खड़ी रह गईं। डाकू नजदीक आया तो श्री मां ने कहा, "पिताजी मैं तो आपकी बेटी हूँ"। इन शब्दों का जादुई असर हुआ। अत्यन्त क्रूर उस डाकू ने नरम आवाज में कहा, "डर मत, मेरे साथ मेरी पत्नी हैं, पीछे-पीछे आ रही हैं।" श्रीमाँ ने हिम्मत करके कहा, "पिताजी, मेरे साथी मुझे छोड़ कर आगे चले गए हैं। मुझे लगता है कि मैं रास्ता भी भूल गई हूँ। आपके दामाद दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के काली मन्दिर में रहते हैं। मैं उनके पास जा रही थी। आप मुझे उनके पास ले चलेंगे तो वे आपका खूब स्वागत करेंगे। मुझे उनके पास ले चलोगे?" श्रीमाँ ने यह कहा ही था कि वहां डाकू की स्त्री आ गई। श्रीमाँ ने तुरन्त प्यार और विश्वास से उसका हाथ पकड़ कर कहा, "माँ-माँ मैं तुम्हारी बेटी सारदा हूँ। मेरे साथी मुझे छोड़ कर चले गए हैं। इससे मैं

विपत्ति में पड़ गई हूँ। सौभाग्य से आप दोनों आ गए, नहीं तो मैं क्या करती ?

श्रीमाँ की निःसंकोच वार्ता, संपूर्ण विश्वास और मीठी बातों ने यह निम्न बागदी जाति के डाकू दम्पत्ति के हृदय को जीत लिया। ब्राह्मण कन्या और अपने बीच सामाजिक भेदभाव को भूल कर वे मानो उनकी अपनी बेटी हो इस प्रकार उसे सान्त्वना देने लगे। श्रीमाँ थकी हुई थी इसलिए उन्होंने उसे आगे नहीं जाने दिया। किन्तु पास के गांव की एक दुकान में ले गए। डाकू की पत्नी ने श्री माँ के लिए अपना बिस्तर लगा दिया। डाकू उनके खाने के लिए कुछ लाया, बाद में उन्हें सोने के लिए कह कर डंडा लेकर सारी रात बाहर खड़े-खड़े पहरा देता रहा।

दूसरे दिन सवेरा होते ही वे दोनों श्री माँ को लेकर तारकेश्वर की ओर चल पड़े और डेढ़ घंटे में वहाँ पहुँचे। एक दुकान में रूक कर डाकू की पत्नी ने अपने पति से कहा, "हमारी बेटी ने तो रात कुछ खाया ही नहीं, भगवान तारकेश्वर की पूजा जल्दी कर लो; बाद में बाजार में से अच्छी वस्तुए ले आओ, इसे आज सारी रात खिलाऊँगी।" इतने में श्री माँ के साथी उन्हें ढूंढते हुए वहाँ आ गए। उन्हें सही सलामत देख कर बहुत खुश हुए। श्री माँ ने उन्हें "बागदी माँ" के साथ मिलवा कर कहा, इन लोगों ने आकर रात मुझे बचा लिया वरना रात को क्या होता, कौन जाने।'

वैद्यवाटी के रास्ते में दोपहर का भोजन श्री माँ के संगी-साथियों, श्रीमाँ और डाकू दम्पत्ति ने एक साथ किया और श्रीमाँ को लेकर आगे चल पड़े। विदा की वेला आ गई। श्रीमाँ और डाकू दम्पत्ति एक ही रात में एक दूसरे के इतने नजदीक आ गए थे कि अलग होने के विचार से ही तीनों की आँखों से अविरल आंसू बहने लगे। यात्री जब आगे बढ़े तो डाकू दम्पत्ति भी उनके साथ काफी दूर तक गए। बाद में बागदी स्त्री ने खेत में से हरे मटर तोड़ कर श्रीमाँ को दिए और भरे गले से कहा, "बेटी सारदा, रात जब मूरी खायेगी तो उसके साथ यह मटर खा लेना।" श्रीमाँ ने उनसे दक्षिणेश्वर आने का वचन लेने के बाद उनसे विदा ली। उन दोनों ने वचन का पालन किया। वे एक बार नहीं बल्कि दो-तीन बार दक्षिणेश्वर आए उन्हें मिलने के लिए। प्रत्येक बार वे अलग-अलग श्रीमाँ के लिए उपहार लेकर गए। श्री माँ से सारी बात सुनने के बाद श्रीरामकृष्णदेव भी उनके साथ दामाद की तरह ही मिलने लगे। बाद में अपने भक्तों से इस प्रसंग पर बात करते हुए एक अर्थपूर्ण बात बताई की, "मेरा लुटेरा बाप इतना सीधा और सच्चरित्र था कि ऐसा लगता ही नहीं था कि उसने कभी लूटमार की हो।

## ( २ )

श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन में घटी यह घटना उनके जीवन चरित्र में प्रकाशित हुई है। श्रीमाँ के जीवन की यह घटना जितनी विस्मय कारक और रोमांचक है, उतना ही आध्यात्मिक दृष्टि से गूढ़ अर्थ भी रखती है। इस घटना को पढ़ने के बाद पढ़नेवालों के मन में अनेक प्रश्न उठते हैं: "क्या सचमुच यह घटना घटी है? कैसा था तेलोभेलो का मैदान? कौन थे यह डाकू? उनमें यह परिवर्तन कैसे आया? बाद में उनका जीवन कैसे बीता?"

कलकत्ता के प्रोफेसर श्री तड़ित कुमार बंदोपाध्याय स्वामी पूर्णतानन्द जी के मार्गदर्शन में इस विषय में बहुत शोधकार्य किया और उन्होंने बंगाली में एक पुस्तक प्रकाशित की है। 'श्री श्री माँ और जकात बाबा' (श्री माँ और डाकू पिता)।

उसमें ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान है। उसमें लेखक ने इस घटना का विश्लेषण समाजतांत्रिक, आर्थिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया है। उनके शोध के अनुसार उस डाकू का नाम था—सागर सांतरा और उसकी पत्नी का नाम था—मातंगिनी। सागर भेलो गांव के पास के तेलो गांव के छोटे जमींदार घोष परिवार में पालकी ले जाने का काम करता था। कभी-कभी लूटपाट कर लेता था पर वह डाकू नहीं था। लगभग १८४६ में जन्मा सागर बचपन से ही देखने में विशाल और भयंकर था। लम्बा-ऊंचा शरीर और दबदबे वाला रोबदार चेहरा, काला रंग। बचपन से ही उसके सामने बोलने का कोई साहस नहीं करता था। असाधारण शक्ति वाले सागर की खुराक भी बहुत असाधारण थी। रोज दंड-बैठक करता था। लाठी चलाने में भी इतना कुशल था कि जब लाठी चलाता था तो उसकी तरफ फेंकी गई ईंट भी लाठी से टकरा कर पीछे वापस आ जाती थी। बाद में उसने जमींदार की नौकरी छोड़ दी और अभाव के कारण वह चोरी करने लगा। वैसे वह भक्त था। उसकी भक्ति की बातें आज भी तेलो गांव के लोग करते हैं। वह अभिनय में कुशल था और गीत भी गा लेता था।

उसकी चार सन्तानों में पहली एक कन्या थी जो जन्म के बाद ही मर गई। उसके बाद एक पुत्र था—बिहारी। उसका पुत्र कृष्णपद सांतरा अभी जिन्दा है। उससे लेखक को बहुत सी जानकारी मिली। तीसरी संतान छोटा पुत्र मेहारी भी युवावस्था में ही मर गया। उसे श्रीमां से मंत्रदीक्षा भी मिली हुई थी। जब वह श्रीमां के पास मंत्र दीक्षा लेने गया था तो श्रीमां का स्वास्थ्य ठीक नहीं था, उन्होंने कहलवाया की अभी मंत्रदीक्षा नहीं मिल सकती। मेहारी को लगा कि वह नीच जाति का है इसलिए उसे श्रीमां दीक्षा नहीं दे रही। तब उसने अभिमान भरे स्वर में कहा, "तुम एक 'बागदी' की बेटी तो बन सकती हो पर एक 'बागदी' की मां नहीं बन सकती। जानती हो जिस 'बागदी' को तुमने पिता कहा है मैं उसका बेटा हूं?" तब श्रीमां को अस्वस्थ होते हुए भी उसे दीक्षा देनी पड़ी। सागर की चौथी सन्तान एक कन्या थी—दुर्गाबा। १९१०-११ में एक वृक्ष की डाल काटते हुए सागर सांतरा वृक्ष पर से गिर पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई। उसके ९-१० वर्ष बाद उसकी पत्नी मातंगिनी की भी सिर की बीमारी से मृत्यु हो गई। दोनों रामकृष्ण लोक में गए पर दोनों श्रीरामकृष्ण भक्त मंडल के लिए चिरस्मरणीय बन कर अमर हो गए। कैसी अद्‌भुत कृपा थी श्रीमां की। डाकू दम्पत्ति को भी भक्त दम्पत्ति में बदल कर अमर कर दिया।

तेलो गांव में जिस दुकान में श्रीमां ने रात बिताई थी वहां अब एक विशाल मन्दिर है। जिसमें श्रीमां की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। देश-विदेश से इस आधुनिक तीर्थस्थान की यात्रा के लिए लोग आते हैं।

## ( ३ )

इस घटना का आध्यात्मिक तात्पर्य क्या है? सामान्य-जन को इस घटना से क्या संदेश मिलता है? गांव की एक सामान्य युवती बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के, किस तरह निर्जन जंगल में भयंकर डाकूओं का सामना कैसे कर सकती है? ऐसे प्रश्न हमारे मन में उठना स्वाभाविक है।

कितने ही लोग यह मानते हैं कि उन डाकूओं ने श्रीमां में काली के दर्शन किए इसलिए उन्हें कुछ नहीं कहा। यह बात हो सकती है, क्योंकि श्रीमां के जीवन में ऐसी कितनी ही घटनाएं हैं।

जिसमें वह देवी स्वरूप प्रकट हुई। पर इस घटना को अलौकिक रूप में न लेकर लौकिक अर्थ में लें तो सामान्य जन को महत्त्वपूर्ण संदेश मिलता है। लौकिक कारण यह है कि श्रीमाँ की सरलता, निखालस्ता और स्नेहसुधा उनके शब्दों से टपकती थी 'पिताजी, मैं तो आपकी बेटी हूँ।' और इससे एक डाकू के मन में पिता का वात्सल्य जाग्रत हो गया। श्री तड़ित कुमार बंदोपाध्याय ने शोध करके बताया कि इस घटना से कुछ समय पहले इस डाकू दम्पत्ति की प्रथम कन्या जन्म के बाद ही मर गई थी और उनके हृदय में जो वात्सल्य था वह सूख गया था। श्री माँ के इन शब्दों को सुनकर उन पर जादुई असर हुआ और एक रात में ही वह दम्पत्ति श्री माँ के इतने नजदीक आ गए कि बिछुड़ते हुए तीनों ही खूब रोए और बाद में भी इस स्नेह बंधन में बंधे रहे।

इस डाकू के हृदय परिवर्तन के पीछे रहस्य है—श्रीमां सारदा देवी को परायों को अपना बना लेने की कला, दुर्जन व्यक्तियों में भी सद्गुण देखने की कला, यह रहस्य उन्होंने अपनी महा-समाधि के पांच दिन पहले बताया। अन्नपूर्णा की मां को उन्होंने कहा था, "सुनो, शांति चाहिए तो किसी में दोष न देखो; अपने दोष ढूँढ़ो, जगत को अपना बनाना सीखो; जगत् में कोई पराया नहीं है।" जिसने लोगों के दुःख से व्याकुल होकर करुणामयी जगदम्बा का शरीर धारण किया इतने सांसारिक दुःख भोगे, यह थी दुखी मानवों के लिए उनकी अंतिम वाणी।

श्री माँ का अपना जीवन इस वाणी की व्याख्या स्वरूप है। बचपन से ही वह रो-रोकर प्रार्थना करती थी, 'हे प्रभु मेरे मन को शुद्ध कर दो जिससे मैं किसी के दोष न देखूँ! चन्द्रमा में भी कलंक है, थोड़ा काला दाग है, मेरे मन को उससे भी अधिक शुद्ध बना दो।" इस प्रार्थना से उनका मन इतना शुद्ध हो गया था कि कितना भी कोई दुष्ट व्यक्ति हो उसमें भी उन्हें कोई दोष नजर नहीं आता था। उनके विशुद्ध मन में मातृत्व का ऐसा विकास हो गया था कि मुसलमान डाकू अमजद जैसा भी उनका स्नेह-पात्र बन गया था! उन्होंने यहाँ तक कहा था कि, "जैसे शरत् (स्वामी शारदानन्द-रामकृष्ण मिशन का प्रथम जनरल सेक्रेटरी) मेरा पुत्र है वैसे ही अमजद भी मेरा पुत्र है।" जीवन व्यवहार में वेदांत का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। वेदांत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में एक ही ब्रह्म विराजमान है। अन्तर है अज्ञान रूपी आवरण का। किसी का आवरण चित्त शुद्धि के कारण पतला है किसी का दुर्गुणों के कारण मोटा। परन्तु उससे अन्दर में रहने वाली आत्मा की आभा में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हर एक को, चाहे स्त्री हो या पुरुष, अमीर हो या गरीब, उच्च वर्ग हो या नीच वर्ग, सज्जन हो या दुर्जन प्यार करना सीखो। श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं "शेर में भी भगवान है पर हम उसे गले तो नहीं लगा सकते"—दुष्टों के कुसंगत से चाहे दूर रहें (अपने को बचाने के लिए) पर मन में किसी के प्रति घृणा न रखें। क्योंकि जगत् में कोई पराया नहीं, सब अपने हैं। कैसा भी क्रूर व्यक्ति हो उसमें भी वात्सल्य का झरना बहता है। एक डाकू माँ अपनी सन्तान के लिए स्नेहिल पिता बन जाता है। हर एक मनुष्य के हृदय के बाग में सद्गुणों और दुर्गुणों का पौधा होता है। कितना ही महान् व्यक्ति हो उसके मन में भी थोड़ा तो दुर्गुण होता है। ऐसे ही कितना ही दुष्ट व्यक्ति हो उसमें भी थोड़े तो सद्गुण होते ही हैं। श्रीमाँ सारदा देवी का जीवन हमें ऐसी कला सिखाता है, जिससे हम अन्य व्यक्तियों के हृदय बाग में रहने वाले सद्गुणों के पौधे को पहचान कर उन्हें विकसित करें और

अपने भी हृदय बाग में रहने वाले सद्गुणों को विकसित करें।

श्रीमाँ ने तो एक डाकू के हृदय में छिपे वात्सल्य को पहचान कर उसको विकसित किया। उन्होंने कितने ही दुर्जनों के मन में मातृ स्नेह का सिंचन किया था। "मैं सज्जनों की माँ भी हूँ और दुर्जनों की भी माँ हूँ। संसार में ऐसा कोई जीव नहीं है जिस पर मेरी दया नहीं है।" हम यदि श्रीमाँ के अमूल्य उपदेशों का पालन करने का प्रयत्न करें। हमारे आसपास रहने वाले मनुष्यों के दोष देखने के बदले उनमें जो सद्गुण है उन्हें देखने का प्रयत्न करें; और उन्हें अपना बनाने का प्रयत्न करें तो हमारे मानव सम्बन्ध सुधरेंगे। परिवार जनों में, मित्रों के बीच में, सहकर्मियों के बीच में सम्बन्ध सुधरेंगे, परिवार में शांति आएगी, कार्यक्षेत्र में शांति होगी, समाज में शांति आएगी, अपने मन में शांति होगी और शाश्वत शांति की तरफ अपना प्रयाण कर सकते हैं। श्रीमाँ शारदा देवी की जन्म तिथि पर उनके श्री चरणों में यह प्रार्थना है—"हे माँ, आपने अपने जीवन में यह अमूल्य उपदेश का आचरण करना बताया था कि दूसरों के दोष न देखो। पर हम इन उपदेशों का पालन नहीं करते। हमें सभी बातों में दूसरों के ही दोष नजर आते हैं। अपना दोष हमें नजर नहीं आता। इसलिए ही इतनी अशांति है। इसलिए ही इतनी परेशानी है, इतनी विपत्ति है। हे पवित्रता स्वरूपिणी माँ, अपनी पवित्रता की एक बूँद हमें भी दे दो ताकि हमारा मन भी पवित्र हो जाए, हम भी दूसरों के दोष देखने की बजाए उनके सद्गुण देखें, सबसे प्यार करना सीखें, अपने दोष देखकर उन्हें सुधारने का प्रयत्न करें और शांति प्राप्त करें।"

□

## ग्राहकों से निवेदन

बन्धुगण,

'विवेक शिखा' विगत १८ वर्षों से आपकी सेवा करती आ रही है। इस पत्रिका ने पाठकों के हृदय में रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रति रुचि उत्पन्न की है, आस्था जगायी है तथा उनमें आध्यात्मिकता का जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान की है। किन्तु इस पत्रिका का सबसे बड़ा दोष है—समय पर नहीं छपना। इससे पाठकों के मन में असन्तोष और खीझ उत्पन्न होती है।

हमने अनुभव किया है ५० रु० वार्षिक शुल्क पर विवेक शिखा का प्रकाशन करने में अतिशय कठिनाई हो रही है। अतएव, अगले वर्ष से अर्थात् **जनवरी २००० ई० से इसका वार्षिक ग्राहक शुल्क ६० रु० (साठ रुपये)** किया जा रहा है। आप से निवेदन है कि इस निर्णय में आप हमारा साथ देकर विवेक शिखा के प्रकाशन में अपना आन्तरिक सहयोग करते रहने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक

# अनासक्ति

लेखक—स्वामी भजनानन्द
सहायक सचिव, रामकृष्ण मठ एवं मिशन,
बेलुड़ मठ
अनुवादक—स्वामी उरुक्रमानन्द
अद्वैत आश्रम, कलकत्ता

कहा जाता है कि जब एडिसन की प्रसिद्ध औद्योगिक प्रयोगशाला में आग लग गयी तो उन्होंने अपनी पत्नी को यह कहकर बुलवा भेजा कि उसने पूरे जीवन में ऐसी आग न देखी होगी। और जब वह भवन उसके बहुमूल्य उपकरणों सहित राख में बदल गया, तो उन्होंने अपने अधिकारियों से कहा कि वे इसकी आर्थिक भरपाई वगैरह के बारे में छानबीन करें। उसके बाद वे चले गये एवं शान्तिपूर्वक सो गये।

जब महान् निग्रो सन्त एवं वैज्ञानिक जॉर्ज वाशिंगटन को यह बताया गया कि आलबामा बैंक का दीवालिया पिट जाने से उनकी आजीवन संचित पूंजी नष्ट हो गयी है, तो शान्त-स्थिर से वे बोले : "मैं अनुमान करता हूँ अन्य कोई उसका सदुपयोग कर पाएगा। मैं अपने लिए उसका उपयोग जगत् में नहीं कर रहा था।"

जगत् में अनासक्ति के ऐसे विलक्षण कार्य हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहते। हम चाहते हैं कि ऐसा अनासक्त भाव हमें भी प्राप्त हो क्योंकि हमें अवगत है कि कठिनाइयों एवं निराशा-भरे इस जीवन में यदि हममें कुछ मात्रा में अनासक्ति न हो तो सन्तुलित एवं शान्त जीवन बिताना बड़ा ही कठिन है। कला, क्रीड़ा या अन्य मनोरंजनों का उपभोग करने हेतु भी हममें सौन्दर्यपरक अनासक्ति का होना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति थियेटर या स्टेडियम में जाता है एवं टिकट खरीदता है तो दरअसल वह यह खर्च केवल एक या दो घण्टों की अनासक्ति के लिए ही व्यय करता है। अपने स्थान पर आराम से बैठकर वह बड़े सन्तोषपूर्वक अत्यन्त भयावह हत्या का दृश्य देख सकता है अथवा उत्तेजनात्मक फुटबाल के मैच का जायका ले सकता है। परन्तु यदि वह स्वयं इन घटनाओं में संलग्न होता तो कैसी भिन्न अवस्था होती ?

यद्यपि सामान्य सामाजिक जीवन में अनासक्ति एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तत्त्व है, यथापि इसे आचरण में लाना कठिन है। व्यक्तित्व के गहरे स्तरों में जाकर ही अनासक्ति की समस्या को ठीक से समझा जा सकता है क्योंकि आसक्ति की जड़ें हमारे गहरे मानस में विद्यमान रहा करती हैं। आध्यात्मिक जीवन ही मनुष्य का गहराई से अध्ययन करता है तथा यहाँ एक आध्यात्मिक विधा के रूप में ही हम अनासक्ति-सम्बन्धी चर्चा कर रहे हैं। इस दृष्टि से साधारणत: इसे वैराग्य का नाम भी दिया जाता है, जिसका पर्यायवाची शब्द 'संन्यास' भी होता है; क्योंकि इस शब्द का सहज अर्थ संसार-त्याग कर संन्यास ग्रहण में प्रयुक्त होता है, हमने व्यापक रूप से समझने हेतु अनासक्ति शब्द का प्रयोग किया है।

# अनासक्ति

लेखक—स्वामी भजनानन्द
सहायक सचिव, रामकृष्ण मठ एवं मिशन,
बेलुड़ मठ
अनुवादक—स्वामी उरुक्रमानन्द
अद्वैत आश्रम, कलकत्ता

कहा जाता है कि जब एडिसन की प्रसिद्ध औद्योगिक प्रयोगशाला में आग लग गयी तो उन्होंने अपनी पत्नी को यह कहकर बुलवा भेजा कि उसने पूरे जीवन में ऐसी आग न देखी होगी। और जब वह भवन उसके बहुमूल्य उपकरणों सहित राख में बदल गया, तो उन्होंने अपने अधिकारियों से कहा कि वे इसकी आर्थिक भरपाई वगैरह के बारे में छानबीन करें। उसके बाद वे चले गये एवं शान्तिपूर्वक सो गये।

जब महान् निग्रो सन्त एवं वैज्ञानिक जॉर्ज वाशिंगटन को यह बताया गया कि आलबामा बैंक का दीवालिया पिट जाने से उनकी आजीवन संचित पूंजी नष्ट हो गयी है, तो शान्त-स्थिर से वे बोले: "मैं अनुमान करता हूँ अन्य कोई उसका सदुपयोग कर पाएगा। मैं अपने लिए उसका उपयोग जगत् में नहीं कर रहा था।"

जगत् में अनासक्ति के ऐसे विलक्षण कार्य हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहते। हम चाहते हैं कि ऐसा अनासक्त भाव हमें भी प्राप्त हो क्योंकि हमें अवगत है कि कठिनाइयों एवं निराशा-भरे इस जीवन में यदि हममें कुछ मात्रा में अनासक्ति न हो तो सन्तुलित एवं शान्त जीवन बिताना बडा ही कठिन है। कला, क्रीड़ा या अन्य मनोरंजनों का उपभोग करने हेतु भी हममें सौन्दर्यपरक अनासक्ति का होना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति थियेटर या स्टेडियम में जाता है एवं टिकट खरीदता है तो दरअसल वह यह खर्च केवल एक या दो घण्टों की अनासक्ति के लिए ही व्यय करता है। अपने स्थान पर आराम से बैठकर वह बड़े सन्तोषपूर्वक अत्यन्त भयावह हत्या का दृश्य देख सकता है अथवा उत्तेजनात्मक फुटबाल के मैच का जायका ले सकता है। परन्तु यदि वह स्वयं इन घटनाओं में संलग्न होता तो कैसी भिन्न अवस्था होती ?

यद्यपि सामान्य सामाजिक जीवन में अनासक्ति एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तत्त्व है, यथापि इसे आचरण में लाना कठिन है। व्यक्तित्व के गहरे स्तरों में जाकर ही अनासक्ति की समस्या को ठीक से समझा जा सकता है क्योंकि आसक्ति की जड़ें हमारे गहरे मानस में विद्यमान रहा करती हैं। आध्यात्मिक जीवन ही मनुष्य का गहराई से अध्ययन करता है तथा यहाँ एक आध्यात्मिक विधा के रूप में ही हम अनासक्ति-सम्बन्धी चर्चा कर रहे हैं। इस दृष्टि से साधारणतः इसे वैराग्य का नाम भी दिया जाता है, जिसका पर्यायवाची शब्द 'संन्यास' भी होता है; क्योंकि इस शब्द का सहज अर्थ संसार-त्याग कर संन्यास ग्रहण में प्रयुक्त होता है, हमने व्यापक रूप से समझने हेतु अनासक्ति शब्द का प्रयोग किया है।

## विवेक और अनासक्ति :

विवेक और अनासक्ति दोनों ही महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक विधान हैं। अनासक्ति विवेक की प्रक्रिया को पूर्ण करती है। अनासक्ति के बिना विवेक लंगड़ा हुआ करता है जो आत्मा को उन्नत नहीं कर सकता। विवेक के बगैर अनासक्ति अंधी होती है जो आत्मा को दिग्भ्रान्त कर देती है। जब इन दोनों का समन्वय किया जाता है तब ये दोनों विधाएं आत्मा के बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देती हैं तथा इस दृश्यमान जगत् में रहने हेतु अहंकार के निरर्थक संघर्ष से विमुक्त कर देती हैं।

विवेक हमें ठीक समझ देता है तथा दिशा प्रदान करता है, परन्तु इन सबका तब तक विशेष महत्त्व नहीं होता जब तक वे हमारी इच्छाशक्ति को उजागर कर हमें सही मार्ग पर अग्रसर नहीं करते। महाभारत के निरपवाद खलनायक दुर्योधन के मुख से निःसृत एक प्रसिद्ध श्लोक इन दोनों विधाओं के अन्तर को स्पष्ट कर देता है: 'मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है, परन्तु उसका आचरण नहीं कर सकता। अधर्म को भी मैं जानता हूँ, परन्तु उससे मैं निवृत्त नहीं हो पाता।'

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥ प्रपन्न-गीता ५६

इस उक्ति को आधुनिक मानव की दुविधा की कटु अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। उसके ज्ञान और विवेक शक्ति ने अनासक्ति को बहुत पीछे छोड़ दिया है। इसके फलस्वरूप उसके दुख और पीड़ा तीव्रतर हो उठे हैं।

## स्वतन्त्रता और अनासक्ति :

विशेषतया साधुजीवन के विषय में प्रायः लोगों को यह कहते सुना जा सकता है: 'बेशक, वह बड़ा अच्छा जीवन होता है, परन्तु उसमें कोई स्वतन्त्रता नहीं होती।' स्वतन्त्रता से भला वे क्या समझते हैं? थियेटर जाने की, उपन्यास पढ़ने की तथा जीवन का उपभोग करने की स्वतन्त्रता। दूसरे शब्दों में, इन्द्रियों की स्वतन्त्रता अथवा आसक्त होने के लिए स्वतन्त्रता। उन्हें कुछ चीजों अथवा अनुभवों से आसक्ति हुआ करती है। इस आसक्ति हेतु जो स्वतन्त्रता हुआ करती है, सामान्यतः उसे ही स्वतन्त्रता का नाम दिया जाता है।

परन्तु सच्ची स्वतन्त्रता आसक्ति में निहित नहीं रहती, अपितु अनासक्ति में। जब हम अपनी कतिपय आदतों एवं अनुभवों से स्वयं को दूर करने की चेष्टा करते हैं, तभी हमें विदित होता है कि हम कितने कम स्वतन्त्र हैं। उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध कहानी हमारी स्थिति को स्पष्ट करती है। एक व्यक्ति ने नदी में कम्बल जैसी कोई चीज को पानी में बहते देखा और उसे पाने हेतु छलांग लगा दी। परन्तु वह सहायता के साथ चिल्लाने लगा। किनारे पर खड़े लोगों ने उससे कहा कि कम्बल को छोड़ दो और तैरकर इस पार चले आओ। वह व्यक्ति पुनः चिल्लाया, "अरे! मैंने तो कम्बल को छोड़ दिया है, पर वह ही मुझे नहीं छोड़ रहा है!" दरअसल, उसने भालू को कम्बल समझने की भूल की थी! लोगों से एवं वस्तुओं से आसक्त हो जाना सरल है, परन्तु उनसे अनासक्त होना दूभर होता है।

सामान्यतः हम सोचते हैं कि हम अपनी इच्छानुसार गतिविधियां कर सकते हैं। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान ने यह दिखा दिया है कि हमारी अनेक क्रियाएं अनजाने ही परिचालित हुआ करती हैं। जिसे हम स्वतन्त्र इच्छा कहते हैं, दरअसल देखा जाता है कि उसके पार्श्व में कोई वासना छिपी रहती है। प्रायः हमारी सभी क्रियाएं अनेक प्रकार की वासनाओं द्वारा प्रेरित होती हैं।

वासनाओं से युक्त इन्हीं क्रियाओं को हम स्वतन्त्र क्रिया समझने की भूल करते हैं।

असल में, हम जैसा चाहें, वैसा सोचने में भी हम स्वतन्त्र नहीं हैं। थोड़ा-सा विश्लेषण ही सिद्ध कर देगा कि विचार कहीं शून्य से नहीं आते। आकाश की ओर दृष्टिपात कर जब हम बादलों को हिलते-डुलते देखते हैं, तो अनुमान कर लेते हैं कि वे उद्देश्यहीन उड़े जा रहे हैं। हालांकि, सचाई यह है कि मौसम विज्ञान के नियम ही बादलों की हलचल नियन्त्रित करते हैं। ठीक उसी तरह मन में उठनेवाले हर एक विचार के पीछे कोई-न-कोई कारण छिपा रहता है। संस्कार (पूर्व अनुभवों की अव्यक्त स्मृतियाँ) के द्वारा ही विचार उत्पन्न होते हैं तथा उनके सतह पर आने में मानसिक जगत् के कुछ नियम कारगर होते हैं। निर्धारित मानसिक गढ़न के फलस्वरूप मन में कुछ विशेष-विशेष प्रकार के विचार ही उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अलावा हमारे मन को कुछ अदृष्ट शक्तियाँ, जैसे अन्य व्यक्तियों की विचार-तरंग भी हमारे मन को प्रभावित करती हैं। तब मन माफिक सोचने की स्वतन्त्रता भी भला हमें कहाँ है ?

ध्यान का अभ्यास करने हेतु भी हमें आध्यात्मिक विचार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए तथा इसकी भी स्वतन्त्रता चाहिए कि हम उन्हें एक चैतन्य बिन्दु की ओर केन्द्रित करें। यह आन्तरिक स्वतन्त्रता हमें तभी प्राप्त होती है जब हम अपने निम्नतर विचारों के प्रति अनासक्त हो उन्हें दूर रखें। केवल अपने ऐसा प्रयत्न करने मात्र से ही हम समझ जाएंगे कि हम अपने पूर्व संस्कारों द्वारा कितने नियन्त्रित हो रहे हैं। सच्ची स्वाधीनता इन संस्कारों के चंगुल से छूटने में ही निहित है। जब तक हम ऐसी स्वाधीनता कुछ मात्रा में नहीं पा जाते, तब तक ध्यान करना एक कठिन कार्य है। अतः ध्यानमय जीवन व्यतीत करने के लिए अनासक्ति एक अनिवार्य शर्त है।

## सद्गुण और अनासक्ति :

एक आध्यात्मिक पुरुष एक निरे सदाचारी मनुष्य से किस तरह भिन्न होता है ? प्रथमतः, एक सदाचार युक्त मनुष्य उच्चतर चेतन सत्ता अथवा अतिचेतन सर्वातीत अवस्था को जानने के लिए स्वतन्त्र नहीं हुआ करता। वह अपने सदाचारमय जीवन से ही सन्तुष्ट रहा करता है। परन्तु, यथार्थतः वह स्वयं अपने अच्छे विचारों और कर्मों से कहीं अधिक ही आसक्त हुआ करता है, भले ही वह इससे अवगत न हो या स्वीकार न करे। 'जब तक तुम मुक्त नहीं होते, तब तक एक यंत्र के सिवा तुम और क्या हो ? क्या तुम्हें इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि तुम अच्छे हो ? बिल्कुल नहीं। तुम इसलिए अच्छे हो कि तुम अन्यथा नहीं हो सकते। दूसरा मनुष्य इसलिए बुरा है कि अन्यथा होना उसके बस की बात नहीं।' (वि० सा०, भाग ३, पृ० १२०)

भलाई और बुराई संस्कारों पर अवलम्बित हुआ करती हैं। एक भला आदमी वह होता है जो अच्छे संस्कारों द्वारा नियन्त्रित होता है। एक दुष्ट मनुष्य वह है जो बुरे संस्कारों द्वारा परिचालित हुआ करता है।

वह जीवन जो भले ही शुभ संस्कारों द्वारा नियन्त्रित होता है, स्वतन्त्र तो कदापि नहीं होता। चेतना के विभिन्न स्तर हुआ करते हैं, तथा जो जीवन निम्नतर चेतनावस्था में पड़ा रहता है— अप्रगतिशील तथा अपूर्ण ही होता है। ऐसा जीवन अपूर्व आध्यात्मिक अनुभव और अपने सहयोगियों की आध्यात्मिक सेवा से होनेवाले आनन्द से सर्वथा वंचित रहता है।

द्वितीयतः, एक सदाचारी मनुष्य दुःख एवं भय से मुक्त नहीं हो पाता। मुख्यतः चेतना की निम्न भूमि में रहनेवाला मानव वासनाओं से मुक्त नहीं हुआ करता चाहे वे कितनी ही अच्छी क्यों न हों। फिर चेतना की उच्चस्तरीय आनन्द की पहुँच से दूर, उसे अपनी वासनाओं की सन्तुष्टि हेतु अपने मनो-सामाजिक परिवेश पर ही पूर्णतया निर्भर होना पड़ता है। जबकि परिस्थितियाँ तो निरन्तर बदलती रहती हैं और उनपर कोई नियन्त्रण भी नहीं रहता, तब उसकी अनेक वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं। इसीलिए वह कुण्ठा एवं दुःख से अप्रभावित नहीं रह पाता। दरअसल, भले मनुष्य दुष्टों की अपेक्षा अधिक मृदु एवं संवेदनशील हुआ करते हैं, इसीलिए कष्ट भी अधिक पाते हैं।

और न रूढ़िगत सदाचार भय से मुक्ति की गारंटी ही देता है। एक सुप्रसिद्ध संस्कृत-श्लोक में कहा गया है :—'भोग करने में व्याधि का भय; कुल-कीर्ति में पतन का भय; धन में शत्रु राजाओं का भय; मान-मर्यादा में अपमान का भय; बल में शत्रुओं का भय; सौन्दर्य में वृद्धावस्था का भय; पाण्डित्य में विरोधियों का भय; सदाचारी को निन्दकों का भय; शरीर को मृत्यु का भय। केवल (अनासक्ति) ही अभय है। अर्थात् वैराग्य (अनासक्ति से ही अभय की प्राप्ति होती है।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

भर्तृहरि, वैराग्यशतकम्, ३१

अपने अहं से जकड़े रहना ही भय का कारण होता है तथा पतंजलि ऋषि ने कहा है कि यह विद्वानों एवं सद्गुणी व्यक्तियों में भी पाया जाता है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥
(पातंजल योगसूत्र—२ : ९)

अज्ञान के कारण ही अहं से यह आसक्ति उत्पन्न होती है। अज्ञान को सद्गुणों के आचरण मात्र से दूर नहीं किया जा सकता। आत्मा की उच्चतम अनुभूति के परिणामस्वरूप उपजा सच्चा ज्ञान ही मानव को भय से मुक्त कर सकता है। जब राजा जनक ने सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि कर ली तो उनके गुरुदेव याज्ञवल्क्य ने उनसे कहा : 'हे जनक! सचमुच तुमने अभयावस्था प्राप्त कर ली है।'

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। बृहदारण्यकोपनिषद्
४ : २ : ४

इससे यह स्पष्ट हो जाता है सदाचार अपने आप में पूर्ण नहीं है। आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए एक अच्छा और सदाचारमय जीवन सुदृढ़ नींव स्थापित करता है। सद्गुण और अच्छाई मनुष्य को उसकी निम्नतर प्रवृत्तियों एवं पाप के शिकंजे से बचाते हैं। परन्तु कभी-कभी, विशेषकर उच्चतर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते समय, रूढ़िगत सामाजिक दिखावों में अत्यधिक लिप्त होने की वजह से और साधक का विनयदम्भ एवं आत्माभिमान ही प्रगति के मार्ग में बाधा बन जाता है। इसलिए श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि सदाचार भी अष्टपाशों में से एक है जो आत्मा को बाँध डालता है।

एक जिज्ञासु को चाहिए कि वह अपने आचरण एवं भले विचारों से भी अनासक्त हो जाए, क्योंकि उसका उद्देश्य उच्चतर मुक्ति है जो पाप और पुण्य से परे है। परन्तु अक्सर ऐसा होता है कि दुष्ट लोग जितने अपनी दुष्टता से बँधे नहीं रहते, उससे कहीं अधिक सदाचारी लोग अपने सदाचार से बँधे देखे जाते हैं। बुद्ध एवं ईसा मसीह को समाज के बहिष्कृतों; पापियों और पतित नारियों

को भगवान की ओर उन्मुख करना पाखण्डियों, नास्तिकों तथा पण्डितों की अपेक्षा सरल जान पड़ा। श्रीरामकृष्ण को गिरीश को परिवर्तित करना सरल प्रतीत हुआ बजाय उन रूढ़िवादियों के जो उन्हें पागल समझते थे।

प्रेम और आसक्ति :

वोल्टेयर की एक प्रसिद्ध उक्ति है, 'अपने मित्रों से मेरी रक्षा करो। मैं अपने शत्रुओं से स्वयं ही निपट लूँगा।' यद्यपि यह परिहास से कहा गया है, तथापि इसमें कुछ सत्य निहित है। स्वजनों एवं सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति ही हमारे अनेक दुःखों और कष्टों का कारण होती है। उनके वास्ते हम न जाने कितने कष्ट, त्याग तथा परेशानियाँ नहीं झेलते। जब वे हमसे स्वाधीनता ले मर्यादातिक्रमण करते हैं तो हम प्रतिकार नहीं कर पाते, तथा जब वे हमारी उपेक्षा करते हैं तब हम गम्भीर रूप से आहत हो दुःख का अनुभव करते हैं। हमारी तकलीफें तब और भी बढ़ जाती हैं, जब दूसरों के प्रति हमारे प्रेम के साथ हमारे कर्तव्य का द्वन्द्व होता है, जैसा कि महायुद्ध के पूर्व अर्जुन के साथ घटा।

तब फिर हम लोगों के लिए उपाय क्या है? प्रेम तथा आसक्ति का यह उभयद्वन्द्व किस तरह सुलझाया जाए? उपरोक्त समस्या के दो प्रकार के समाधान भगवद्गीता सुझाती है: संन्यास और त्याग। संन्यास का अर्थ हुआ समस्त बाह्य सम्बन्धों एवं कर्तव्यों का सम्पूर्ण त्याग। इसका अर्थ हुआ मानवीय सम्बन्धों एवं कर्तव्यों को छिन्न-भिन्न कर संन्यासी बन जाना तथा सारे सामाजिक दायित्वों के घेरे का अतिक्रमण कर जाना। जाहिर है कि यह तो अन्तिम चरण होता है जिसे सम्पन्न करने में बहुत कम लोग ही सक्षम हो पाते हैं। अन्यों के लिए गीता एक और उपाय का विधान करती है जिसे त्याग कहते हैं जिसका अर्थ होता है कर्मफल-त्याग—कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग। यद्यपि इसे कर पाना सरल-सा प्रतीत होता है, परन्तु इसका आचरण करना केवल परिपक्व व्यक्तियों द्वारा ही सम्भव होता है जो सच्चे प्रेम का अर्थ जान गये हों।

समस्त सद्गुणों में प्रेम ही सर्वोत्कृष्ट होता है। ईसा मसीह ने स्वयं इसे ईश्वर से एकरूप माना है। वास्तव में यही सार्वभौमिक एकता का मूलस्रोत है, जो जीवन को गतिशील बनाता है। मानवता के स्तर पर प्रेम सभी सम्बन्धों का पवित्रीकरण करता है तथा सामाजिक जीवन की एकता और समन्वय का पोषण करता है। प्रेम व्यक्तिगत जीवन को समृद्ध और उन्नत बनाता है और मानव के क्रियाकलापों को एक अर्थ एवं जीवन प्रदान करता है। जीवन के किसी भी दौर में उसकी समस्याओं को सुलझाने में जीवन के इतने उदात्त एवं महत्वपूर्ण तथ्य की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं :

'संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जो किसी वस्तु द्वारा कभी आकृष्ट नहीं होते। वे कभी प्यार नहीं कर सकते, वे कठोर हृदय और निर्मम होते हैं, दुनिया के अधिकांश दुःखों से वे मुक्त रहते हैं। किन्तु प्रश्न उठ सकता है, दीवाल भी तो कभी प्यार नहीं करती और न उसे कोई कष्ट होता है। पर दीवाल आखिर दीवाल है! दीवाल बनने से तो आसक्त होना और बँध जाना निश्चय ही अच्छा है। ⋯ हम यह नहीं चाहते। यह तो दुर्बलता है। यह तो मृत्यु है।' (वि० सा०, भाग ९, पृ० १७७)

यदि प्रेम इतना उदात्त सद्गुण है, तो फिर वही प्रेम दुःखों का कारण भला क्यों बन जाता है? इसका उत्तर यह है कि जिसे सामान्यतः हम

प्रेम कहते हैं, वास्तव में वह सच्चा प्रेम होता ही नहीं। अधिकतर वह प्रेम, स्वार्थ, लोभ और ऐन्द्रिक-सुख का मिश्रण हुआ करता है। 'हम फँस जाते हैं। कैसे ?' स्वामी विवेकानन्द प्रश्न कर स्वयं ही उनका उत्तर देते हैं :

'उससे नहीं जिसे हम देते हैं, वरन् उससे जिसके पाने की हम अपेक्षा करते हैं। हमारे प्यार के बदले हमें मिलता है दुःख। इसलिए नहीं कि हम प्यार करते हैं, वरन् इसलिए कि हम बदले में चाहते हैं प्यार। जहाँ चाह नहीं है, वहाँ दुःख भी नहीं है। वासना, चाह—यही दुःखों की जननी है।' (वि० सा०, भाग ६, पृ० १७८)

सच्चा प्रेम बदले में किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता तथा मनुष्य को स्वार्थ-वृत्ति से मुक्त कर देता है। श्रीरामकृष्ण अपवित्र प्रेम को माया तथा शुद्ध प्रेम को दया कहा करते थे। 'दया और माया में बड़ा अन्तर है। दया अच्छी है, माया अच्छी नहीं। माया का अर्थ है आत्मीयों से प्रेम—अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बहन, भतीजा, माँ, बाप इन्हीं से प्रेम। दया अर्थात् सब प्राणियों से समान प्रेम।' (वचनामृत भाग १, पृ० ४०३—४)

पुनः 'माया से आदमी बँध जाता है, ईश्वर से विमुख हो जाता है। दया से ईश्वर की प्राप्ति होती है। (वचनामृत भाग २, पृ० ५६ )

हमारे लिए अनासक्ति का सही अर्थ जानना अत्यन्त आवश्यक है। सच्ची अनासक्ति का अर्थ है स्वयं के निम्न स्वरूप से अनासक्त होना। अनासक्ति के नाम पर इसकी सम्भावना भी रहती है कि हम अन्य लोगों की भावनाओं के प्रति निष्ठुर तथा असंवेदनशील बन जाएँ। यद्यपि ऐसे लोग दूसरों के प्रति अनासक्त होते हैं, परन्तु निज के निम्न स्वरूप से भयंकर रूप से जुड़े रहते हैं। अनासक्ति के नाम पर इसकी भी सम्भावना बढ़ जाती है कि दूसरों से नफरत एवं घृणा करें। परन्तु घृणा तो अनासक्ति की ही विरुद्धात्मक अभिव्यक्ति मात्र है। एक सच्चा अनासक्त व्यक्ति न तो किसी से घृणा करता है और न ही सम्मोहित होता है।

अनासक्ति निःस्वार्थ प्रेम तथा दया का निषेध नहीं करती। दरअसल, एक अनासक्त आध्यात्मिक पुरुष ही दूसरों से सच्चा प्रेम कर सकता है। अन्य सभी तो स्वयं से ही प्रेम करते हैं। दूसरों के प्रति एक अनासक्त व्यक्ति की अभिवृत्ति इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वे लोग उसके विषय में क्या धारणा रखते हैं। उसकी चिन्ता का एकमात्र विषय होता है सबका कल्याण और खुशहाली। पुनः, वह इसका ध्यान रखता है कि कोई भी उसके प्रति आसक्त न हो जाए तथा वह सभी के मन को ईश्वराभिमुख कर देता है अथवा जीवन के उच्चतर उद्देश्य की ओर मोड़ देता है।

## अनासक्ति का मनोविज्ञान :

अनासक्ति का अभ्यास सहज हो जाता है यदि हम उसमें निहित मानसिक प्रक्रियाओं से अवगत हो जाएँ। जब हम आसक्ति अथवा अनासक्ति के विषय में कहते हैं, तो आखिर वह हमारे व्यक्तित्व के किस पहलू पर प्रयुक्त होता है ? हमारे भौतिक शरीर पर तो कदापि नहीं, क्योंकि वह तो एक स्वतन्त्र सत्ता है जो किसी से भी आसक्त नहीं होता। क्या वह मन हो सकता है ? परन्तु 'मन' तो एक ऐसी काल्पनिक उक्ति है जो मनोजगत् के विभिन्न पक्षों को दर्शाता है। यदि हम सूक्ष्मता से अपने विचारों और क्रियाओं का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि आसक्ति और अनासक्ति इच्छा या इच्छाशक्ति की ओर इंगित करती है।

इच्छाशक्ति ही बन्धन में पड़ जाती है और इसी को बन्धनमुक्त करना पड़ता है।

इच्छाशक्ति के विषय में सामान्य धारणाएँ

नानाविध एवं अस्पष्ट हैं। महान् जर्मन मनोविज्ञानी वण्ट अनेक शोध करने के उपरान्त इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जिसे सामान्यतः इच्छाशक्ति कहा जाता है, दरअसल वह सहज वृत्ति के अलावा भिन्न कुछ नहीं है। एक मनुष्य सुबह जल्दी उठने का संकल्प ले तदनुरूप अपनी अलार्म-घड़ी को ठीक कर देता है। जब अलार्म घड़ी बजती है तो वह उठने में स्वयं को असमर्थ पाता है। यदि ऐसा दिन-पर-दिन घटे, तो वह निष्कर्ष निकाल लेता है कि उसमें सुबह उठने की 'इच्छाशक्ति' का सर्वथा अभाव है। परन्तु, मान लो यदि उसे सुबह को रेलगाड़ी पकड़नी हो, या किसी परीक्षा में बैठना हो, तो वह बिना अलार्म-घड़ी के कभी-कभी निर्धारित समय के पूर्व ही उठ बैठता है। इस मामले में ऐसा हुआ है कि एक सहज वृत्ति (भय) ने दूसरी सहज वृत्ति (आलस्य) पर विजय हासिल कर ली। हमारे बहुतेरे क्रियाकलाप इन्हीं सहज वृत्तियों द्वारा परिचालित होते हैं, जिन्हें हिन्दू मनोविज्ञान के तहत 'संस्कारों' का दर्जा दिया जा सकता है। सच्ची इच्छाशक्ति कभी-कभार ही क्रियान्वित होती है।

सच्ची इच्छाशक्ति क्या होती है? सामान्यतः संस्कृत भाषा में इसे 'इच्छा' के नाम से जाना जाता है; गीता में इसी को एक अन्य शब्द धृति कहा गया है। हिन्दू मनोविज्ञान के अनुसार इच्छाशक्ति कोई अलग प्रभाग नहीं है। यह 'अहं'-बोध से अभिन्न है। जैसा शंकराचार्य कहते हैं 'इच्छा तो बुद्धि की ही एक विशेष वृत्ति है', (धृतिरपि वृत्ति विशेष एवं बुद्धिः) जो हममें अतीन्द्रिय शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है।

'अहं'-बोध बुद्धि का स्थिर पक्ष है तथा इच्छाशक्ति सक्रिय पहलू। 'अहं'-बोध का क्रियान्वयन ही इच्छाशक्ति कहलाती है। ठीक जैसे शुद्ध चैतन्य विचार एवं इन्द्रियों से भिन्न होता है, उसी प्रकार इच्छा भी उनसे सहज ही में अलग रहती है। परन्तु हमारी सामान्य वासनाओं एवं कर्म में यह इच्छाशक्ति का इस कदर उनसे तादात्म्य होता है कि इच्छाशक्ति एवं सहज वृत्ति में भेद करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

यह तादात्म्य कैसे होता है? प्राण अथवा समष्टि ऊर्जा निरन्तर हमारे संस्कारों (पूर्वानुभवों की दबी स्मृतियाँ) को हमारे मन में गतिशील कर रहा है, और जिन्हें हम वासनाएँ कहते हैं वह इनसे ही उद्‌भुत हो रही हैं। इसीलिए गीता कहती है—

'काम एवं क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होते हैं।'

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।

(गीता ३ : ३७)

यहाँ रजोगुण को समष्टि ऊर्जा या प्राण कहा गया है। इस तरह हममें से सैकड़ों वासनाएँ उठती रहती हैं, जबकि हम एक समय में कुछ ही के विषय में अवगत हो पाते हैं। वासनाओं का मात्र उठना कष्टदायक नहीं है। वह कष्टकर तब होती हैं. जब उच्छाशक्ति जाकर उन वासनाओं को जकड़ लेती हैं। केवल तभी इच्छाशक्ति 'अहं' से जुड जाती है। तब वासना संकल्प बन जाती है। प्रत्येक कर्म के पार्श्व में चाहे वे भौतिक या मानसिक हों, संकल्प विद्यमान रहता है। यदि इच्छाशक्ति उससे जुड़ी न हो तो वासना हमें प्रभावित नहीं कर सकती। वह चेतना के क्षेत्र में कुछ देर रहने के पश्चात् विलीन हो जाती है।

महाभारत की एक बहुचर्चित उक्ति है: 'अरी वासना! मैं तुम्हारे मूल कारण को जान गया हूँ। तुम संकल्प के कारण उत्पन्न होती हो। यदि मैं संकल्प ही न करूँ, तो तुम समूल नष्ट हो जाओगी।'

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलस्त्वं विनङ्क्ष्यसि॥

महाभारत, शान्तिपर्वम १७७·२५

प्रत्येक दिन हम न जानें कितने ही संकल्प क्यों न करते हों और उन्हें पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं, और यही हमारी आसक्ति एवं उससे जुड़ी समस्याओं का मुख्य कारण होता है। संकल्पों को उठने से रोकने हेतु हमें इच्छाशक्ति को वासनाओं से अलग करना होगा जो जमे हुए संस्कारों द्वारा उत्पन्न होती हैं। सही अर्थों में यही सच्चा अनासक्ति है। जब ऐसा हो जाता है, तभी हम अपने विचारों, वासनाओं एवं क्रियाओं के साक्षी बन जाते हैं बजाय उनके द्वारा प्रभावित होने के।

जबकि प्राण की क्रियाशीलता की वजह से ही वासनाएं संस्कारों से उत्पन्न होती हैं, प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा इन वासनाओं को उठने देने से रोका जा सकता है, प्राणायाम संस्कारों को निष्क्रिय कर देता है। इसी तरह का प्रभाव कुछ नशीली दवाइयों का सेवन, मस्तिष्क, जो कि मन का एक विशेष माध्यम है—को निष्क्रिय कर डालता है जिससे मनुष्य में उल्लासोन्माद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। परन्तु प्राणायाम की प्रक्रिया अथवा नशीली औषधियों का सेवन इच्छाशक्ति को प्रभावित नहीं कर सकता। जब तक इच्छाशक्ति भ्रष्ट, अप्रशिक्षित और आसक्त बनी रहती है तब तक मानव स्वयं को वासनाओं से मुक्त नहीं पाता, क्योंकि जब प्राणायाम अथवा औषधी-सेवन का प्रभाव चला जाता है, संस्कार पुनः प्रबल हो उठते हैं हो सकता है, दुगुनी तीव्रता से। संस्कारों को उच्चतर आध्यात्मिक अनुभव के आलोक में ही पूर्णतया नष्ट किया जा सकता है। जब तक ऐसा नहीं हो पाता, इच्छाशक्ति को विवेकपूर्वक और तीव्र ईश्वर-प्रेम के द्वारा संस्कारों से अलग रखना पड़ता है। जब संस्कारों को इच्छाशक्ति का सहारा नहीं प्राप्त होता, तो क्रमशः वे निष्क्रिय पड़ जाते हैं तथा दुर्बल अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे योगीगण तनु (क्षीण) कहते हैं। केवल तभी वासनाएँ हमें परेशान नहीं कर सकती हैं।

## योग और वियोग :

श्रीशंकराचार्य कहते हैं, 'योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः। कठोपनिषद् पर शांकर-भाष्य (२.३.११)

—जो वास्तव में वियोग है, उस ऐसी अवस्था को ही योग मानते हैं; क्योंकि यह अवस्था योगी की सभी प्रकार के अनर्थ संयोग की योग-रूपा है।' दूसरे शब्दों में अनासक्ति एक निहित तथ्य है। ध्यान कोई साधारण चिन्तन नहीं होता। वह किसी निश्चित आध्यात्मिक केन्द्रमय विषय पर एक बोधपूर्वक एकाग्रता होता है। इसके लिए इच्छाशक्ति को सर्वप्रथम सभी वासनाओं एवं विचारों से विलग करना होता है। उसके पश्चात्, इच्छाशक्ति की बिखरी हुई ऊर्जाओं को एकत्रित करना पड़ता है। फिर, इस एकत्रित इच्छाशक्ति को आध्यात्मिक केन्द्र की ओर मोड़ना पड़ता है।

इन सोपानों में, प्रथम ही सबसे कष्टसाध्य है। एक बार इच्छाशक्ति को अलग करने पर उसे किसी भी विषय पर केन्द्रित किया जा सकता है। वासनाओं एवं इन्द्रियों की दास बनी इच्छाशक्ति शक्तिहीन हुआ करती है। परन्तु उन्मुक्त हुई एकाग्र इच्छाशक्ति में लेसर विकीरण की तरह प्रचण्ड शक्ति आ जाती है। इस तरह स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली इच्छाशक्ति ही एक योगी की सम्पदा हुआ करती है। जब तक यह इच्छाशक्ति वासनाओं से आबद्ध रहती हैं, तब तक उसमें शक्ति संवर्धन की हर चेष्टा केवल वासनाओं और सहज वृत्तियों को ही बढ़ावा देती रहेगी। सच्ची इच्छाशक्ति केवल अनासक्ति द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

योग के विभिन्न प्रकारों के अभ्यास में अनासक्ति को एक अनुपेक्षणीय प्रारम्भिक विधा कहा जा सकता है। कर्मयोग को अनासक्ति एवं कर्म कह जा सकता है; भक्तियोग अनासक्ति और प्रेम होता है; और ज्ञानयोग अनासक्ति और ज्ञान का ही नाम है। अनासक्ति का अभ्यास कल्पना के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसे दैनन्दिन जीवन में आचरित करना तथा परीक्षण कर देखना पड़ता है। इसीलिए अन्य योगों से पहले कर्मयोग का अभ्यास अवश्य करणीय होता है। मनुष्य से प्रेम तथा भगवान से प्रेम में मुख्य अन्तर यह होता है कि पहले वाला प्रेम आसक्ति पर और दूसरा प्रेम अनासक्ति पर आधारित होता है। विशुद्ध इच्छाशक्ति जो ईश्वराभिमुख कर दी जाती है, वही भक्ति कहलाती है।

## अनासक्ति के विभिन्न स्तर :

अनासक्ति कोई एक लम्बी छलांग में प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है; इस हेतु विभिन्न चरणों से होकर गुजरना पड़ता है। यह सत्य है कि कुछ लोगों के जीवन में अकस्मात् 'परिवर्तन' एक ही झटके में आत्मा को संसार के शिकंजे से छुड़ा लेता है, परन्तु ऐसी स्थिति में भी प्रक्रिया को पूर्ण होने में समय तो अवश्य लगता है। जब हम आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होते हैं, तो पाते हैं कि अनासक्ति-विषयक हमारी धारणा में भी परिवर्तन हो रहा है। अनासक्ति के विकास में अनेक स्तर होते हैं, और वे इंगित करते हैं कि हम अपनी चेतना को जागृत करने में कितने सफल हुए हैं।

योगियों के अनुसार वैराग्य या अनासक्ति चार चरणों में सम्पन्न होती है। पहली सीढ़ी को 'यतमान' (स्वप्रयत्न पर आधारित) कहा जाता है, जिसमें साधक वासनाओं से छुटकारा पाने हेतु विवेक, तपस्या एवं प्रभु पर शरणागति का अभ्यास करता है। दूसरी अवस्था है 'व्यतिरेक' (भिन्नत्व पर आधारित), जिसमें साधक को यह समझ में आ जाता है कि—'इतने पूर्व-संस्कारों को नष्ट कर दिया गया है और अब कुछ ही शेष बचे हैं। तीसरी अवस्था को 'एकेन्द्रिय' (बाह्येन्द्रिय पर आधारित) कहा जाता है जिसमें कर्मेन्द्रियों को नियन्त्रण में ले लिया जाता है, केवल ज्ञानेन्द्रिय (मन) अब भी सक्रिय अवस्था में होता है। पूर्वानुभवों की स्मृति मात्र बची रहती है। इच्छाशक्ति अब वासनाओं की दास नहीं रहती, परन्तु इस अवस्था में वह पूर्णतया उच्चतर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर उन्मुख नहीं होती है। नियन्त्रण की, यह वह अवस्था है, जिसमें साधक ऐन्द्रिय सुख से निरत हो आत्म-संयम (शम सुखम्, के आनन्द का उपभोग करता है। अब ध्यान स्थिर एवं बिना प्रयत्न के सहज ही लग जाता है। चतुर्थ अवस्था 'वशीकार' (पूर्ण विजय पर आधारित) में, इच्छाशक्ति पूरी तरह निर्बन्ध हो पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाती है। ऐसी अवस्था में योगी अपनी इच्छानुसार उसे परिचालित कर सकता है। इस चरमावस्था में हो ध्यान समाधि में परिपक्व हो जाता है। (योगसूत्र पर वाचस्पति मिश्र की टीका देखिये। गीता पर अपने श्रीभाष्य (२: ५५-५८) में श्री रामानुजाचार्य ने भी इन्हीं अवस्थाओं का वर्णन किया है : तथा वेदान्त देशिक ने अपनी टीका में उपरोक्त इन्हीं अवस्थाओं को दर्शाया है।

सभी आध्यात्मिक पथों में, मनोवैज्ञानिक होने की वजह से सभी योगों में उपरोक्त अवस्थाएं पाई जाती हैं। आधुनिक जगत् में जबकि ध्यान केवल आध्यात्मिक तकनीक के रूप में, अपितु उपचार के रूप में भी प्रचलित हो रहा है—उपरोक्त अवस्थाओं की ओर दुर्लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु जब तक इन स्तरों को पार न किया जाए,

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

# स्वामी विवेकानन्द और महावीर हनुमान (६)

—स्वामी शशांकानन्द

ऐसा सुनकर हनुमान जी ने कहा, हे माता! मैं सत्य कहता हूँ मुझ पर विश्वास कर मुझे श्रीराम कार्य करना है। माता जानकी की खोज लेकर श्रीराम को सुनानी है। यह कार्य सम्पन्न कर मैं तेरे मुँह में आ जाऊँगा। तुम खा लेना, अब मुझे जाने दो। जब सुरसा नहीं मानी और एक योजन लम्बा मुख खोल दिया तो हनुमानजी ने अपनी देह दो योजन की बना ली। जब सुरसा ने अपना मुख सोलह योजन का खोला तो हनुमानजी ने देह बत्तीस योजन बढ़ा ली। जैसे-जैसे सुरसा मुख खोलती गयी हनुमान जी भी शरीर दुगुना बढ़ाते गये। जब सुरसा ने एक सौ योजन मुख खोला तो हनुमान जी छोटे होकर उसके मुख में घुस कर निकल आए और कहा माता मैं तो मुख में घुसा था पर तूने खाया नहीं। अब मुझे जाने दो। सुरसा ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया।

रामकाजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आशिष देई गई सो, हरषि चलेउ हनुमान॥

इधर स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन में भी 'खर्चा' नामक सुरसा आई जो उन्हें खाना चाहती थी। अमेरिका जाने के समय यात्रा का खर्च बहुत अधिक था। फिर अमेरिका में भी प्रत्येक वस्तु बहुत महँगी थी। स्वामीजी के पास अल्प पूँजी थी और होटलों के खर्चे में दो सप्ताह में ही जेब खाली हो गयी। प्रतिदिन का खर्चा एक पौंड था। इधर उन्होंने सुना कि शिकागो सम्मेलन भी सितम्बर मास से पहले न होगा।

महंगाई और खर्चे ने सुरसा की तरह मुख बढ़ाना शुरू किया। स्वामीजी ने भी अपनी सहनशक्ति और धैर्य का शरीर बढ़ना शुरू किया और विश्वास के बल पर दीर्घ आकार हो गए। स्वामी जी ने भगवान पर दृढ़ विश्वास का कवच धारण किया और इस दृढ़ता और विश्वास का शरीर बढ़ाया। विश्वास की सदा जय होती है। वे एक पत्र में लिखते हैं,

"मरूँ या जिन्दा रहूँ, उद्देश्य नहीं छोड़ूँगा।

इस देश में शीत व अनशन से मर सकता हूँ, परन्तु हे युवकगण! मैं तुम्हें दरिद्र, पतित, उत्पीड़ितों के लिए यह प्राण-पण चेष्टा धरोहर के रूप में दे रहा हूँ। तुम इन तीन करोड़ नर-नारियों के उद्धार का व्रत धारण करो—जो प्रतिदिन घोर अज्ञान के अंधकार में डूबे जा रहे हैं। प्रभु के नाम की जय हो—हम अवश्य ही कृतकार्य होंगे। विश्वास—अग्निमय विश्वास।

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

जब शीत, घृणा और खर्चे ने १०० योजन मुख बढ़ाया और रात को होटल में ठहरने का पैसा भी न रहा, खाने के लिए पैसा न रहा तब स्वामीजी ने रेलवे के माल गोदाम के सामने खड़े हुए एक माल गाड़ी के डब्बे में सारी रात बिताई। उस समय बाहर बर्फ गिर रही थी। शीतकाल की प्रखर वायु का तीव्र स्पर्श, मालगाड़ी के डब्बे में घोर अंधकार, देह रक्षा करने के लिए काफी वस्त्र भी न थे। सब कुछ सहा, सारी रात अनाहार रहने से सारा शरीर शिथिल हो रहा था आगे भी न बढ़ पा रहे थे। भूख मिटाने के लिए दर-दर भिक्षा माँगने लगे तो मिली गालियाँ और धक्के।

तब क्लान्त होकर राजपथ के किनारे बैठ गए। गुरुदेव का स्मरण करने लगे सब दुःख कष्ट दूर हो गये। मन में संतोष हुआ।

किसी कवि ने कहा भी है, "गोधन गजधन बाजधन और रतनधन खान। जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान ॥"

ऐसा लगता है मानो स्वामी जी के त्याग, संतोष और सहनशक्ति के सामने स्वर्चा सुरसा हार गई। मानो वह कह उठी—त्याग, संतोष, सहनशीलता, आत्मविश्वास और गुरु निष्ठा के बल पर तुम श्रीरामकृष्ण का कार्य आवश्य कर लोगे। और तब ही सामने जो विशाल भवन था उससे निकलकर एक महिला ने स्वामीजी से पूछा, महाशय क्या आप धर्म महासभा के प्रतिनिधि हैं? और फिर उनकी बुद्धि से प्रभावित होकर उन्हें सुरसा की भाँति आश्वासन दिया कि वे उन्हें धर्मसभा में ले जायेंगी। स्वामीजी का रास्ता प्रशस्त हुआ।

अब अनुमान जी के प्रसंग पर लौट आएं।

लंकहि चलेउ सुमिरि हनुमाना।

प्रभु का नाम स्मरण कर पुनः हनुमान जी ने लंका में प्रवेश किया। लंका की द्वारपाल लंका राक्षसी का नजर से बचकर कोई नहीं जा सकता। वह बड़ी ही कुशल थी। हनुमान जी ने सोचा मच्छर के समान रूप धर कर मैं निकल जाऊँगा। परन्तु मच्छर के रूप में जाते हुए हनुमानजी को उसने देख लिया और ललकारा तो हनुमान जी ने बड़ा रूप बनाकर उसे एक घूंसा मारा कि पृथ्वी पर गिर पड़ी और रक्त वमन करने लगी।

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानी कर विनय ससंका ।!
जब रावनहि ब्रह्मवर दीन्हा। चलत विरंचि कहा मोहि चीन्हा ॥
विकल होसि तैं कपि कै मारे। तब जानेसु निसिचर संहारे ॥
तातें मोर अति पुण्य बहूता। देखेउँ नयन रामकर दूता ॥

लंका राक्षसी संभल कर उठी और हाथ जोड़कर विनती करने लगी। और उसने कहा कि रावण को वर देकर लौटते हुए ब्रह्माजी ने उसे बताया था कि जब एक बंदर की मार से तू व्याकुल होकर गिर जाएगी तो समझ लेना अब राक्षसगण समाप्त हो जायेंगे। यह तो मेरे पुण्य हैं कि आज श्रीराम दूत को मैंने दर्शन किए।

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिली जो सुख लब सत्संग ॥
प्रविसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा ॥

एक क्षण के सत्संग का सुख तो स्वर्ग और मोक्ष के सुख से भी अधिक है वह मुझे प्राप्त हुआ है। अब आप हृदय में श्रीराम का स्मरण कर नगर में प्रवेश कीजिए।

स्वामी जी के जीवन में देखें :

जब तक शिकागो धर्म-महासम्मेलन में स्वामीजी अंश ग्रहण नहीं करते, सारी पृथ्वी पर सनातन धर्म का लुप्त गौरव नहीं लौट सकता। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से अंधी हुई सारी पृथ्वी मानो आज शिकागो में एकत्रित है। आध्यात्मवाद का गौरव तो वहीं प्रकट हो सकता है।

पर जिस प्रकार लंका राक्षसी के होते लंका में प्रवेश असम्भव था उसी प्रकार परिचय-पत्र के बिना शिकागो धर्म-महासम्मेलन में प्रवेश असम्भव था।

एक दिन उक्त महिला के घर में ही स्वामीजी का हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रीक भाषा के विख्यात प्रोफेसर जे० एच० राईट के साथ परिचय हुआ। थोड़ी देर वार्तालाप के बाद स्वामीजी का उद्देश्य जानकर प्रोफेसर ने कहा, "आप शिकागो महासभा में हिन्दूधर्म के प्रतिनिधि के रूप में अवश्य आइयें।" किन्तु उत्तर में स्वामीजी ने जब अपनी कठिनाई बताई तो प्रोफेसर ने कहा "स्वामी जी आपसे परिचय-पत्र चाहना तो सूर्य से उसके चमकने का अधिकार-पत्र माँगने के समान है।" और प्रोफेसर ने मिस्टर बन्नी को पत्र में लिखा :

"मेरा विश्वास है कि ज्ञात हिन्दू संन्यासी हमारे सभी पण्डितों को एकत्रित करने पर जो कुछ हो सकता है उससे भी अधिक विद्वान है।"

जिस प्रकार लंका ने हनुमान जी का बल देखकर उन्हें लंका में प्रवेश करने का अधिकार दिया उसी प्रकार प्रोफेसर राईट ने स्वामीजी को महासम्मेलन में अंशग्रहण करने का अधिकार दिला दिया। मानो प्रोफेसर के मुख से और एक बार लंका बोल उठी।

देखेऊँ नयन रामकृष्ण कर दूता।

"आज मैं श्रीरामकृष्ण के दूत के दर्शन कर धन्य हुआ।" और स्वामीजी से कहा, "रामकृष्ण को स्मरण कर निश्चिन्त होकर महाधर्म सम्मेलन में प्रवेश कीजिए।

हनुमानजी अशोक वाटिका जा पहुँचे। जिस वृक्ष की छाया में माता जानकी बैठी थीं उसी वृक्ष पर हनुमानजी पत्तों में छुपकर बैठ गए। उसी समय रावण भी आया और माता जानकी के सामने उपस्थित हुआ।

कह रावण सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी ॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा ॥

रावण ने कहा हे सुमुखि! एक बार मेरी ओर देखो तो मंदोदरी आदि सब रानियों को मैं तुम्हारी दासी बना दूँगा।

तृण धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही ॥
सुन दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी (कमल) करई बिकासा (खिलता है) ॥
सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज लाज नहीं तोही ॥

अपने परम स्नेही भगवान श्रीराम का स्मरण कर तिनके की आड़ में माता जानकी ने रावण से कहा, "हे रावण ! कहीं जुगनू के प्रकाश से कमल खिलता है मूर्ख ? श्रीराम की अनुपस्थिति में चोर की तरह मुझे लाकर तुझे लाज नहीं आई।

आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।
परुष वचन सुनि काढि असि बोला अति खिसियान ॥

अपने को जुगनू और श्रीराम को सूर्य की उपमा सुनकर रावण ने क्रोधित होकर अपनी तलवार निकालकर खिसियाते हुए कहा, "सीता ! तूने मेरा अपमान किया है, मैं तेरा सिर अपनी तलवार से काट दूंगा। हनुमान जी रावण को मारने के लिए उद्यत हुए और माता जी की रक्षा करना चाहते थे इतने में देखा मंदोदरी ने उन्हें रोक दिया। अब हनुमान जी को यह आभास हुआ कि वे तो यंत्र है। प्रभु श्रीराम ने सब व्यवस्था कर रखी है। रावण सीताजी को मार न सका तब सीताजी को बहुत भला बुरा कह कर धमकाता डराता रावण चला गया। अब हनुमान जी की समस्या थी कि माता को अकेली कैसे पाए। राक्षसियों के पहरे में यह सम्भव न था।

त्रिजटा नाम राच्छसी एका
राम चरन रति निपुन विवेका
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना।

उन्हीं पहरा देने वाली राक्षसियों में त्रिजटा नाम की राक्षसी निपुन, विवेकी और रामभक्त थी। उसने सबको अपना एक स्वप्न सुनाया। हनुमान जी कान खड़े करके सुनने लगे।

सपने बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी ॥
खर आरुढ़ नगन दस सीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा।

त्रिजटा ने कहा, "मैंने स्वप्न में देखा एक बंदर ने लंका जला दी, राक्षसों की सब सेना मार दी और गधे पर रावण को सिर मूंड़ कर उसकी भुजाएँ काटकर नग्न बिठा दिया है। लंका विभीषण को मिली और सीता को श्रीराम नगर ले गए।

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी ॥

मैं सच कहती हूँ शीघ्र ही ऐसा होने वाला है।

त्रिजटा के स्वप्न की बात सुनकर हनुमान जी बड़े ही विस्मित हुए। सोचने लगे कि हमने तो सुना था—

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥

किन्तु यहाँ तो बड़ी योगिनियाँ रहती हैं। बुद्धिमान साधिकाएं हैं जो भविष्य की बातें भी बता देती हैं। लंका जानती थी कि मैं रामदूत यहाँ आऊँगा, उसे मुष्ठि प्रहार करुंगा और तब राक्षसों को नाश होगा। त्रिजटा ने मेरे आने से पहले जान लिया कि मैं लंका आऊँगा और लंका जला दूंगा और

राक्षसों को मार दूँगा। यह मुझे अभी भी नहीं मालूम कि मुझे लंका जलानी है, राक्षसों को मारना है। कार्य तो प्रभु श्रीराम ने कर ही रखे हैं, वे तो केवल यंत्र मात्र हैं, शक्ति स्रोत तो उनका ही है। हनुमान जी महाराज पग-पग पर यही अनुभव कर रहे हैं कि प्रभु ही यंत्री है मैं तो केवल यंत्र हूँ। उन्होंने तो सब व्यवस्था कर रखी हैं मुझे धन्य करने के लिए चुना है। कार्य तो श्रीराम ने कर ही दिए हैं मैं तो यंत्र ही हूँ। शक्ति स्रोत तो वे स्वयं हैं।

स्वामीजी ने भी अपने सारे जीवन में यही अनुभव किया था। अमेरिका से १९०० ई० में वे अपने एक पत्र में लिखते हैं "मैं आनन्द में हूँ। मानसिक शक्ति का अनुभव कर रहा हूँ। ... माँ का प्रेम बढ़ रहा है। मैं माँ का बालक हूँ। वे ही काम करती हैं, वे ही खेलती हैं। मैं क्या संकल्प बनाऊँ? मैं क्यों संकल्प बनाऊँ? बिना मेरे संकल्प के 'माँ' की इच्छानुसार ही चीजें आयीं और गयीं। हम उनके यंत्र हैं। वे कठपुतली की तरह नचाती हैं।

"मैं मनुष्य या किसी चीज पर निर्भर नहीं रहता प्रभु ही मेरी एक मात्र शरण हैं। वे ही मुझे यंत्र बनाकर कर्म करा रहे हैं।" (वि० च० २७७)

भौतिकवाद रूपी रावण के दबाव से आध्यात्मिकवाद रूपी माता जानकी का अपमान देख स्वामीजी बहुत चिन्तित हो उठे थे और कैसे फिर से आत्महारा भारत-भारती में आत्मविश्वास, अन्तर्निहित सम्भावनाओं के प्रति श्रद्धा लौटा दें, यह चिन्ता कर रहे थे कि शिकागो महा-धर्मसम्मेलन की रचना हुई। और फिर जब उन्हें उसमें सम्मिलित होने की अनुमति भी मिल गयी तब उन्हें यह आभास हुआ कि प्रभु ने यह सब उन्हीं के लिए किया था। उन्हें अपना यंत्र बनाकर धन्य किया था।

त्रिजटा के चले जाने के बाद जब माता जानकी अकेली ही बैठी थी तब हनुमान जी ने सुअवसर पाकर मुद्रिका गिरा दी। मुद्रिका देख माता जानकी ने उसे पहचान लिया। उनके मन में शंकाएँ और भय जाग्रत हुए। परन्तु तुरन्त ही सामान्य वानर रूप धर कर हनुमान जी ने माता जानकी से भेंट की, अपना परिचय दिया तथा श्रीरामजी के गुण गाकर उन्हें धीरज बँधाया। श्रीरामजी की पूरी गाथा सुनाकर श्रीराम का माँ जानकी के प्रति प्रेम का वर्णन किया जिसे सुनकर वे मग्न हो गयीं। फिर हनुमानजी ने कहा, माता !

कह कपि हृदयँ धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता ॥
उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम वचन तजहु कदराई ॥

हृदय में धीरज और श्रीराम का स्मरण कीजिए। प्रभु के बल प्रताप पर विश्वास करके दुखी न होइए। सीता जी ने कहा हनुमान मुझे तो यह असम्भव लगता है।

मोरे हृदयँ परम संदेहा।

मेरे मन में यह संदेह है कि तुम जैसे छोटे-छोटे बन्दरों की सेना लेकर श्रीराम कैसे रावण पर विजय पायेंगे।

"सुनि कपि प्रगट कीन्ह निज देहा ।"
कनक भूधराकार सरीरा । समय भयंकर अति बल बीरा ।।
सीता मन भरोस तब भयऊ ।।

ऐसा सुनकर हनुमान जी ने स्वर्णवर्ण पर्वत के समान अपना भयँकर रूप बनाया तब माता जानकी को विश्वास हुआ और उनका भय दूर हुआ । तब माता जानकी ने हनुमान जी को आशीर्वाद दिया ।

सुनु माता साखा मृग नहिं बल बुद्धि विसाल ।
प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु व्याल ।।

हनुमान जी ने कहा बंदरों में बल और बुद्धि अधिक नहीं होती पर प्रभु के प्रताप से हम युद्ध में कौशल दिखा सकते हैं क्योंकि जब प्रभु के प्रताप से गरूड़ भी साँप को खा जाते हैं तो हम क्यों निष्फल रहेंगे ।

होहु तात बल सीलु निधाना ।

हे तात ! तुम बल और शील के धर बन जाओ । हनुमानजी महाराज को संतोष नहीं हुआ । फिर माता ने कहा :

अजर अमर गुन निधि सुत होहू ।

तब भी हनुमान जी ने सुना पर संतुष्ट नहीं हुए क्योंकि अजर,अमर और गुणवान होकर क्या होगा ? फिर माता ने कहा :

करहु बहुत रघुनायक छोहू ।।

रघुनाथ तुम पर बहुत कृपा करें । बस 'कृपा' शब्द सुनकर ही हनुमान जी मग्न हो गए :

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना । निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ।।
अब कृतकृत्य भयऊँ मैं माता । आसिष तब अमोघ विख्याता ।।

हे माता ! अब मैं कृत्यकृत्य हो गया आपका आशीर्वाद अमोघ होता है । यह विश्व जानता है । प्रभु की मुझ पर कृपा होगी ही ।

स्वामी विवेकानन्द की एक मात्र कामना थी श्रीरामकृष्ण की कृपा । एक बार श्रीरामकृष्ण ने बहुत दिन नरेन्द्र से बात नहीं की, यहाँ तक कि उसके आने पर उसका मुख भी नहीं देखते थे । परन्तु नरेन्द्र नियमित रूप से आता रहा और श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठा रहता । फिर एक दिन श्रीरामकृष्ण ने जब पूछा कि जब मैं बात नहीं करता, तुम्हारी ओर देखता भी नहीं तो फिर क्यों आता है ? तो उन्होंने कहा था, "क्योंकि मैं आपको प्रेम करता हूँ !" उनकी कृपा में ही नरेन्द्र का जीवन था ।

इधर स्वामीजी जब शिकागो के रंगमंच पर पहुँचे तो उनका स्वरूप अशोक वाटिका में वृक्ष पर बैठे हनुमान जी की तरह बहुत ही छोटा था। बाद में स्वामीजी ने स्वयं ही वर्णन किया था—

"और मैं—जिसने जन्म में कभी जन-साधारण के सामने भाषण नहीं दिया वह इस महासभा में (७००० लोगों के सामने) भाषण देगा। संगीत प्रारम्भिक भाषण आदि नियमित रिवाज से आरम्भ हुए।

इधर मेरी छाती धुक-धुक कर रही थी और जीभ सूख रही थी। मैं इतना घबड़ा गया कि पूर्वाह्न में तो भाषण करने का भरोसा तक न कर सका। मजुमदार ने अच्छा भाषण दिया, चक्रवर्ती और भी सुन्दर बोले, खूब तालियाँ पिटी—वे सभी अपना-अपना भाषण तैयार करके लाए थे। मैं मूर्ख, मैंने कुछ भी तैयार नहीं किया था।

स्वामीजी को ऐसी दशा देखकर सनातन धर्म रूपी माता जानकी तो निश्चय ही घबड़ा गयी होंगी। भय और घबड़ाहट वाला यह विवेकानन्द और अन्य रामकृष्ण की सन्तान कैसे धर्म संस्थापन का कार्य करेंगे। वे कैसे अद्वैतज्ञान का प्रचार करेंगे जिसकी नींव ही निर्भयता है। किन्तु उसी समय जब स्वामीजी को बारी आई तब स्मामीजी स्वयं कहते हैं।

"खैर मैं देवी सरस्वती को प्रणाम करके आगे बढ़ा।" जैसे ही स्वामीजी ने कहा, "मेरे अमरीकावासी भाइयों और बहनों" कि ३ निमट तक तालियों की गड़गड़ाहट से गगन फटने लगा हर्षध्वनि से अमरीका गूँज उठा। स्वामीजी का ऐसा स्वरूप देखकर शायद "सनातन धर्म" रूपी माता को विश्वास हुआ होगा कि अब भौतिकवाद से मुक्त होकर वे साम्राज्ञी हो जायेंगी और पुनः पृथ्वी-वासियों के मन पर भगवान का राज्य होगा।

●

---

हमारे ठाकुर बहुत लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। ईश्वर के प्रति भक्ति होना ही सार वस्तु है। इस बार पृथ्वी पर ठाकुर का आविर्भाव गरीब-धनी, पण्डित-मूर्ख सभी के उद्धार के लिए हुआ है। मलय पवन यहाँ जोरों से प्रवाहित हो रहा है। जो अपना पाल थोड़ा-सा भी खोलेगा और ठाकुर के प्रति शरणागत होगा, वह धन्य हो जायगा।

सब कुछ मन पर निर्भर है। बिना मन की शुद्धता के कुछ भी पाया नहीं जा सकता। कहा गया है, "गुरु, कृष्ण, वैष्णव तीन की दया हुई। एक की दया बिना जीव की दुर्गति हुई।" यह 'एक' मन ही है। साधक के मन को दयालु होना चाहिए।

—श्रीमाँ सारदा

जयन्ती (२५ दिसम्बर) पर

# छात्रों के नाम महामना मालवीय के सन्देश

—डॉ० रमाशंकर पाण्डेय

मेरे प्यारे बच्चो !

भारत तुम्हारा देश है औरों से न्यारा, सबसे बढ़-चढ़कर तुम्हारा सर्वस्व इसे समर्पित हो, तुम्हारा जीवन इसकी सांस्कृतिक एकता की रक्षा में काम आये। तुम सार्वजनिक कार्य के लिए, कल्याण के लिए उत्सर्ग हो, तन से, मन से, धन से अपने प्राणप्रिय राष्ट्र को अभ्युदय की ओर अग्रसर करो। हां, तुम्हारा देश प्रेम क्षणिक उबाल वाला नहीं होना चाहिए। अरे, उसे तो छाती से मढ़ी हुई कील तरह चौबीसों घण्टे कसकते रहना चाहिए। देश सेवा के लिए तुम्हें हर प्रकार से अपने को योग्य बनाना चाहिए। याद रहे यह बात कि एक सच्चा सिपाही वही है जिसे पूर्णरूपेण आत्मविश्वास है कि हम लड़ाई का कार्य सफलतापूर्वक कर लेंगे। ऐसा समझकर जो युद्ध के मैदान में उतरता है, वही विजयी होता है। जिसे आत्मविश्वास ही नहीं होगा, वह तो कायर है और एक कायर कभी भी विजयी नहीं होता। उसमें कुछ भी नहीं होता।

आज हमारे देश में चारों ओर अज्ञानता फैली है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक भारतीय छात्र का परम कर्तव्य होता है कि वह अशिक्षा एवं अज्ञानता के विरुद्ध ज्ञान का प्रकाश फैलाने का झटपट एक सशक्त अभियान छेड़ दे। बच्चो, अपनी शक्ति का सावधानी से संचय करो। खाली समय अथवा छुट्टी के दिनों में गांवों में जा-जाकर ज्ञान का प्रचार-प्रसार करो। पाठशालाएं खोलो-खुलवाओ। किसी भी अवस्था में धर्म का त्याग मत करो। धर्म को ठीक से समझो और दूसरों को समझाओ। गांवों में परस्पर सहयोग एवं संघटन पर पूरा-पूरा बल दो। गांव के लोगों की स्वच्छता, स्वास्थ्य की आवश्यकता एवं महत्ता पर बल दो। उन्हें ठीक से समझाओ-बुझाओ। उनके हित के लिए कार्य करो। लोकशिक्षा समिति का संघटन करो और अशिक्षा और अज्ञानता से इस महत्तम उद्देश्य के प्रचार के लिए देश भर के शिक्षित युवकों को आमन्त्रित करो। निश्चित है कि सफलता का ताज तुम्हारे सिर शोभित होगा। ईश्वर-भक्ति, देश के प्रति समर्पण भाव, अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति सदा उत्साहित एवं सचेष्ट रहो। इसी में तुम्हारा व्यक्तित्व उभरेगा और देश की भी सुरक्षा होगी। अपने भीतर मातृभूमि के प्रति गौरव, समर्पण तथा उसकी मुक्ति की पवित्र भावना विकसित करो। यदि तुम ऐसा करोगे तब तुम एक महान् राष्ट्र बना पाओगे। मेरे प्यारे बच्चो, शील से रहित ज्ञान निरर्थक है। कोई ऐसा काम मत करो जिससे भारत माता के पवित्र धवल आंचल पर धब्बा लगे, साथ ही इस महान राष्ट्र की किसी प्रकार क्षति हो। अपने हृदय को पवित्रतम बनाओ, निर्मल बना लो। फिर तो दुनिया में जहां कहीं जाओगे, वहां मान के अधिकारी बनोगे, सत्य कहो, सत्य पर आचरण करो। सत्य को ही अपने मानस में उतारो। आजीवन स्वाध्याय में संलग्न रहो, न्यायप्रिय एवं निर्भय बनो। नेक कार्य के लिए हमेशा तैयार रहो। यह सदा मान-जानकर चलो कि यह हमारा

शरीर परमात्मा का मन्दिर है। ईश्वर को सदैव अपने भीतर अनुभव करो। अपने शरीर रूपी मन्दिर को कभी भी अपवित्र मत होने दो। इस पवित्र मन्दिर का रक्षक स्वयं तुम्हारा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही हमें वह आत्मबल देता है जिसको पाकर हम इस संसार को जीत सकते हैं।

मानव जाति के इतिहास में जितने महापुरुषों की कथा इस दुनिया को विदित है, उसमें सबसे बड़ा भगवान कृष्ण ही हैं। मानव की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का जितना ऊंचा विकास उनमें हुआ था, उतना किसी दूसरे महापुरुष में नहीं हुआ। जैसा विमल ज्ञान और जैसी सात्विक नीति का आपने उपदेश किया, वैसा किसी और महापुरुष ने नहीं किया। इसी कारण जो लोग अपना मंगल चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान कृष्ण की शरण में अवश्य आयें। इस दुनिया में ऐसा कौन है जो भगवान श्रीकृष्ण के समान सर्वगुण सम्पन्न हो। श्रीकृष्ण भगवान में दानशीलता है, निपुणता है, शास्त्र का ज्ञान है बल है, नम्रता है, यश है, उत्तम बुद्धि है, विनय है, लक्ष्मी, धैर्य है, सन्तोष है, शरीर हृष्ट-पुष्ट है। आप आचार्य, पिता, गुरु के अर्घ्य पाने के योग्य पूजे हुए और पूजा के योग्य प्रजा-पालक और लोकप्रिय हैं। इसलिए हे मेरे प्यारे बच्चो, हमने इन्हें पूजा के योग्य माना है। याद रहे कि जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ ऋजुता है वहाँ गोविन्द है। जहाँ पर गोविन्द वहाँ विजय है। जहाँ पर जोगेश्वर कृष्ण हों, जहाँ गाण्डीवधारी पार्थ हों, जहाँ मस्तिष्क बल, हृदय बल और बाहुबल एकत्र हों, वहाँ लक्ष्मी हैं, वहाँ विजय है, वहाँ विभूति है, निश्चित नीति है।

जैसे हमारे शरीर-रक्षा के लिए अन्न अति आवश्यक है, उसी प्रकार एक आदमी को आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता है। आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति धर्म-दीपक के सहारे इस संसार के कष्टों से बचता हुआ अपना समय बिता सकता है। जिस धर्म दीपक का आधार सत्य है, तेल तप है, बत्ती दया है, लौ क्षमा है, उस दीपक को संसार के अन्धकार में प्रवेश के लिए यत्नपूर्वक सम्हाल कर रखना है। पर जिस आदमी को धर्म के दीपक का सहारा नहीं है, जो अपने जीवन के व्यवहार में अच्छे नियमों के अनुसार नहीं चलता, वह एक ही नहीं, अनेक कष्ट उठाता है। धर्म दो प्रकार के हैं—एक है बड़ों के वचनों का सदुपदेश, दूसरा है बड़ों के आचरण का उपदेश। आचरण का उपदेश वचनों के उपदेश से अधिक प्रभावशाली है। इस आचरण के उपदेश के लिए समय-समय पर महापुरुष अवश्य ही हमारे बीच आते हैं। इन सभी महा-पुरुषों में सबसे बड़े हैं भगवान कृष्ण। आपने अपने आचरण से और वचनों से जो उपदेश इस दुनिया को दिया है, उसकी कोई उपमा नहीं है। जहाँ धर्म है, वहाँ कृष्ण हैं, जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ विजय है।

इस संसार में अनेक ग्रन्थ है पर गीता की समानता का एक भी नहीं है। वेदों का उत्तम भाग है उपनिषद, उपनिषद रूपी गौ माता का दूध रूपी अमृत ही तो गीता है। सभी उपनिषदों का सारतत्व कृष्ण ने दुहा और उसी अमृत का पान किया। अर्जुनरूपी बछड़े ने उसकी अमृत का पान किया। पृथ्वी पर ऐसी कोई दूसरी पुस्तक है ही नहीं। जब आपत्ति हो, तब गीता की शरण में जाना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि हमारा प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी और अध्यापक गीता माता पर अटूट श्रद्धा करें। इस अनमोल ग्रन्थ में धर्म और राजनीति का मेल है। मैं चाहता हूँ, हम ऐसा नियम बना लें कि हर सप्ताह में प्रतिदिन एक-डेढ़ घण्टे का समय धर्म-मन्थन को भेंट करें। अपने सभी भारतीय छात्रों, अध्यापकों, नागरिकों

से यही अपनी गुरुदक्षिणा मांगता हूँ और आशा करता हूँ कि हमारे भारत के जन मुझे मेरी गुरु-दक्षिणा अवश्य देंगे। अरे भई, चौबीस घण्टों के दिन और रात में डेढ़-दो घण्टे धर्म के नाम पर देना कठिन नहीं है। इसके बदले मेरा सर्वस्व ले लो। जैसे कोई भूखे-प्यासे को अन्न-पानी देता है, उसी तरह मुझे अपने जीवन का यह डेढ़-दो घण्टे का समय दो। फिर उस श्रद्धापूर्ण अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाओ। आखिर हम उससे अधिक समय तो हम व्यर्थ में इधर-उधर गंवा देते हैं। डेढ़-दो घण्टे का समय गीता माता के सम्पर्क में बिताओ। उससे शिक्षा ग्रहण करो और स्वय देखो कि इससे तुम्हारे जीवन में कितना परिवर्तन होता है। ज्ञान और चरित्र दोनों का मेल कर लेने से हम इस संसार में मान के अधिकारी होंगे, गौरव पायेंगे। शारीरिक शिक्षा और धर्म शिक्षा दोनों अनिवार्य हैं। ब्रह्मचर्य का पालन कर सभी छात्र शरीर को दृढ़ बनायें, अपने चरित्र की रक्षा करो। पर-स्त्री पर कभी भी कुदृष्टि मत डालो। जो स्त्री अवस्था में बड़ी है, वह साक्षात् मातावत् है, जो बराबर की है वह बहन तुल्य है और जो छोटी है उसे पुत्री मानो। जिन देशानुरागी में तपश्चर्या नहीं, जो मुसीबतों, विघ्नों, आफतों का सामना करने से कतराते हैं, जो द्वन्द्वों को सहन नहीं कर सकते, जो भूख-प्यास सर्दी-गर्मी, धूप-छांह, कोमल-कठोर, मीठा-खट्टा आदि दोनों के दास हैं, वे संसार रूपी क्षेत्र में कदापि कृत-कृत्य नहीं होंगे।

मन, वाणी, शरीर से सात्विक बनो मेरे प्यारे छात्रो। पढ़ते-लिखते समय सारी दुनिया को भूल जाओ। यही तो तुम्हारी उपासना है। यही तुम्हारी पूजा है। हां, पढ़ने-लिखने के बाद जो समय बचे, उसे अपने देश के इतिहास, अपने पूर्वजों के चरित्र, अपने देश की विगत एवं वर्तमान अवस्था, दूसरे देशों का इतिहास, समाचार एवं पत्रिकाएँ पढ़ने में और विचार में लगा दो। अपनी पढ़ाई को बिना हानि पहुँचाये सभा-समाजों में जाओ, विद्वानों को सुनो। यह मत भूलो कि यह भी तुम्हारी उम्र वालों के लिए पहली शिक्षा का एक अंग है। अतः यह मेरी सलाह है कि इससे भी आगे जाकर राजनीति क्षेत्र में पैठने पर उतना ही पैठो कि जितने से तुम्हारे स्वाध्याय में बाधा उपस्थित नहीं हो। इससे तुम्हारा और देश का समान रूप से भला होगा। विद्यार्थी का अपना धर्म है—विद्याध्यन धर्म। उन सभी कार्यों को छोड़ दो जो तेरे स्वाध्याय में विघ्न डालने वाले हैं। भगवान कृष्ण, हे मेरे प्यारे छात्रो! तुम्हारा मंगल करें।

---

● ईश्वर-दर्शन के विषय में श्रीमाँ ने कहा :

"जानते हो बेटा, यह कैसा होता है ? यह तो मानो एक बच्चे के हाथ की मिठाई है। कुछ लोग बच्चे से इस मिठाई को मांगते हैं। पर वह उन लोगों को मिठाई नहीं देता। किन्तु वह जिसको चाहता है, उसे बड़ी सरलता से दे देता है। एक व्यक्ति जीवन भर ईश्वर-दर्शन के लिए कठोर तपस्या और साधना करता है पर उसे सफलता नहीं मिलती जबकि दूसरे व्यक्ति को बिना किसी प्रयास के उनके दर्शन हो जाते हैं। वे जिसे चाहते हैं उस पर ही कृपा करते हैं। उनकी कृपा ही महत्वपूर्ण वस्तु है।"

—श्रीमाँ सारदा देवी

क्रिसमस : २५ दिसम्बर के अवसर पर

# हृदय से शिशु बनना ही क्रिसमस है

—सोमा पठानिया

क्रिसमस "क्राइस्ट" और "मास दो शब्दों के मेल से बना एक शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—क्राइस्ट का उत्सव। क्राइस्ट का यह उत्सव जो क्रिसमस कहलाता है, क्राइस्ट के जन्म से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि क्रिसमस के दिन क्राइस्ट के अनुयायी जो मसीही कहलाते हैं, उनके जन्म की खुशी मनाते हैं।

पवित्र बाइबिल के एक भाग यूहन्ना रचित सुसमाचार में सन्त यूहन्ना ईसा मसीह के लिए लिखते हैं—"परमेश्वर ने जगत से ऐसा प्रेम किया कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया, ताकि जो कोई उस पर अर्थात् मसीह यीशुपर विश्वास लाए, वह नष्ट न हो, अपितु अनन्त जीवन पाये।" क्राइस्ट स्वयं इस बात की चर्चा अपने चेलों से करते हुए कहते हैं "मैं इसलिए इस जगत में आया हूँ कि मनुष्य बहुतायत से जीवन पाएँ "उद्धार पाएँ।"

मसीह शब्द इब्रानी से लिया गया है, जिसका सांकेतिक अर्थ परमेश्वर द्वारा चुने हुए उस व्यक्ति विशेष से है, जो इस संसार के मनुष्य समुदाय को उनके पापों से छुड़ाकर, परमेश्वर का राज्य स्थापित करने में समर्थ होगा। पवित्र बाइबिल का प्रथम भाग, जो पुराना नियम कहलाता है और जिस भाग की रचना क्राइस्ट के जन्म से कई सौ वर्षों पहले हुई, वहाँ भी इसी बात की चर्चा है, कि आनेवाला मसीह, परमेश्वर का चुना हुआ व्यक्ति होगा, जो मनुष्य को उनके पापों से छुड़ाकर परमेश्वर के राज्य की स्थापना करने में सफल होगा। किन्तु यहूदी, जिन्हें एक लम्बे अरसे से मसीह के आने की, प्रतीक्षा नहीं, उन्होंने क्राइस्ट के आने पर, क्राइस्ट को उद्धारकर्ता मसीह यीशु के रूप में नहीं स्वीकारा, क्योंकि क्राइस्ट का क्रूस पर असहाय होकर मृत्यु को अपनाना, यहूदियों के लिए मसीह के उस सामर्थी स्वरूप से भिन्न था, जिस रूप की उन्होंने कल्पना की थी। यही कारण है कि आज भी यहूदियों को मसीह की प्रतीक्षा है। एक ऐसे मसीह की, जो दीन और नम्र होकर क्रूस पर मर जाने वाला न होकर, बैरियों का नाश कर परमेश्वर का राज्य स्थापित करने में समर्थ हो।

पच्चीस दिसम्बर, एक निर्धारित तिथि है, जब क्राइस्ट के जन्म की खुशी मनायी जाती है और उसके जन्म के उद्देश्य का स्मरण किया जाता है। यह कहना गलत होगा कि क्राइस्ट का जन्म २५ दिसम्बर को ही हुआ था या किसी अमुक तिथि को। यही कारण है कि कुछ देशों में क्रिसमस अन्य तिथियों पर भी मनायी जाती है। जहाँ तक तिथि और ईसवी का प्रश्न है वहाँ एक मत न होते हुए भी लोग क्राइस्ट के जन्म की सत्यता को स्वीकारते हैं। यह ऐतिहासिक सत्य है कि क्राइस्ट का जन्म हुआ था और उन्होंने अपने जीवन के करीब ३३ वर्ष इस धरती पर गुजारे थे—मनुष्यों की सेवा में।

आज क्रिसमस पर विभिन्न तौर-तरीके देखने

को मिलते हैं। विभिन्न परम्पराएँ प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ, क्रिसमस केक, क्रिसमस ट्री, क्रिसमस फादर, क्रिसमस स्टार, क्रिसमस कार्ड आदि। आज अन्य त्योहारों की तरह क्रिसमस मनाने के तौर-तरीके में भी परिवर्तन आया है। नये-अच्छे कपड़े, सजावट, पार्टी, डांस जैसी चीजों ने अपनी महत्ता बढ़ा ली है। क्राइस्ट के प्रति श्रद्धा भी कमती जा रही है।

क्राइस्ट का जीवन तो मनुष्य जाति के प्रति प्रेम, सेवा और त्याग का जीवन रहा, आज भी उनके जन्म के करीब दो हजार वर्षों पश्चात इस संसार के लिए एक उदाहरण हैं। मनुष्य आज कितनी भी प्रगति कर ले, कितने भी आविष्कार कर ले, चांद-सितारों तक पहुँच जाए, किन्तु अपनी संस्कृति सेवा और त्याग-भावना का परित्याग कर परमेश्वर के योग्य नहीं हो सकता। क्रिसमस, जो "बड़ा दिन" भी कहलाता है, तब तक बड़ा दिन नहीं बनता, जब तक आदमी के भीतर, शिशु यीशु (क्राइस्ट) का जन्म नहीं होता।

क्राइस्ट ने स्वयं कहा है, जब तक कोई अपने आपको छोटे बच्चे की तरह न बना ले, वह स्वर्ग के राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता अर्थात् "क्राइस्ट का उत्सव तभी सम्भव है, जब हम एक नये जीवन का धारण करें। प्रेम, त्याग, तपस्या और मानव कल्याण से भरपूर जीवन। एक मासूम बच्चे सा पवित्र जीवन। जिस दिन भी ऐसा होगा, वही असली क्रिसमस होगा, असली "बड़ा दिन" होगा।

---

(पृष्ठ २० का शेष)

एक स्थिर ध्यानस्थ जीवन जीना और कोई भी सच्चा आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर पूर्णत्व की उपलब्धि करना कठिन है। आज के जगत् में मानव के चारों ओर अनेक विक्षेपों और प्रलोभन के विषयों की विपुल मात्रा में वृद्धि की वजह से, आधुनिक मानव के लिए सौ वर्षों पूर्व उसके पूर्वजों की अपेक्षा अनासक्ति के अभ्यास की आवश्यकता अधिक हो गई है। आधुनिक जीवन इतना पेचीदा तथा तनावभरा हो गया है कि बगैर अनासक्ति के कतिपय अभ्यास के, सहज, शान्तिपूर्ण जागतिक जीवन व्यतीत करना ही मानो कठिन हो गया है। गीता में वर्णित प्रेरणात्मक विधा ही आज मानव-कल्याण के लिए उपयुक्त है : 'हे अर्जुन ! कर्म में आसक्त होकर अज्ञानी लोग जिस तीव्रता से कर्म करते हैं, ज्ञानी को अनासक्त रह कर लोगों के कल्याण-साधन की इच्छा से उसी तीव्रता के साथ कर्म करना चाहिए। १६

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

१६ (गीता : ३ : २५)

(प्रस्तुत लेख अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर १९७९ के सम्पादकीय लेख का हिन्दी अनुवाद है।)

# रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ

रामकृष्ण नगर विद्यापीठ, देवघर-814 112 (बिहार)

# एक निवेदन

भगवान श्री रामकृष्णदेव, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के पावन पदरज से तीर्थीकृत तथा स्वामी विवेकानन्द स्मृतिविजड़ित आकर्षण केन्द्र, ज्योतिर्लिङ्ग बाबा वैद्यनाथ की इस पुनीत नगरी देवघर में रामकृष्ण संघ द्वारा संचालित प्रथम आवासीय शिक्षण संस्थान रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ की स्थापना सन् 1922 में हुई। भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अन्यतम पार्षद स्वामी तुरीयानन्दजी महाराज से अनुप्राणित तथा स्वामी विवेकानन्द के शिक्षादर्शों पर आधारित आज से 77 वर्ष पूर्व स्थापित यह शिक्षण संस्थान आज पूरे भारतवर्ष में विख्यात है। रामकृष्ण संघ के द्वितीय परमाध्यक्ष परमपूजनीय श्रीमत् स्वामी शिवानन्दजी महाराजने भविष्यवाणी की थी—'इस विद्यापीठ के माध्यम से भविष्य में बहुत महान कार्य सम्पन्न होंगे, इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।'

अपने विगत 77 वर्षों की यात्रा के दरम्यान इस विद्यापीठ ने अपनी उपलब्धियों की दृष्टि से एक शताब्दी से अधिक वर्षों की यात्रा की है। "बाल कल्याण के क्षेत्र में इसके उत्कृष्ट कार्यों के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार" से इसे सम्मानित करना एक प्रमाणक है। इसी से माध्यमिक शिक्षा की केन्द्रीय परिषद् (सी०बी०एस०ई०) नई दिल्ली ने इसे स्थायी सम्बद्धता प्रदान की है।

विद्यापीठ में (V से X वीं कक्षा तक) कुल 307 छात्र हैं। इसके आवासीय खण्ड में 12 धाम (प्रखण्ड) हैं जो की रामकृष्ण के शिष्यों के नाम पर रखे गये हैं।

अब आपको यह जानकर निश्चय ही प्रसन्नता होगी कि विद्यापीठ अप्रैल 2000 ई० से "+2 कक्षाएँ" (वर्ग 11 और 12) का शुभारंभ करने जा रहा है। इसकी आवश्यक संरचना के विकास के लिए प्रायः 60 लाख रुपयों की आवश्यकता होगी—

| | |
|---|---|
| छात्रावास—परिसर का निर्माण (छात्रावास, प्रार्थना-भवन, भोजनालय आदि) | — 54 लाख रुपये |
| उपस्कर, प्रयोगशालाओं का उन्नतिकरण (भौतिक शास्त्र, रसायण शास्त्र, जीव-विज्ञान और कंप्यूटर) | — 6 लाख रुपये |
| | कुल 60 लाख रुपये |

अतः हम अपने मित्रों और भक्तों से इस उत्कृष्ट प्रयास के लिए उदारता-पूर्वक सहायता करने का अनुरोध करते हैं।

प्रभु-सेवा में आपका,<br>
**स्वामी सुवीरानन्द**<br>
सचिव

**नोट :**—1. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के नाम से ही चेक या ड्राफ्ट भेजे जाएं।

2. रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान आयकर की धारा 80 [G] के अंतर्गत आयकर से मुक्त है।

# श्रीरामकृष्ण मठ

मयलापुर, चेन्नई-६०० ००४
फोन : ४६४१२३१, ४६४१६५६ फैक्स : ४६३१५८६
Website : www. Sriramakrishna Math. org
email srkmath @ vsnl.com

८ जनवरी, १९९९

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों के प्रत्येक अध्येता के लिए विवेकानन्दार इल्लम एक पुनीत भवन तथा तीर्थस्थान है। आपको विदित होगा ही कि सौ वर्ष पूर्व फरवरी १८९७ ई० में स्वामी विवेकानन्द चेन्नै के आइस हाउस या कैसल कर्नन नामक इसी बंगले में पधारे थे। उन्होंने यहाँ पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी अदृश्य तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोत्तेजक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं। फिर १८९७ ई० में स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में यहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई, जो १९०६ ई० तक इसी पुनीत भवन में चलता रहा। इस प्रकार यह भवन दक्षिण भारत में रामकृष्ण संघ के प्रथम केन्द्र का निवास होने के साथ ही एक ऐतिहासिक स्थल भी है, जहाँ से स्वामीजी ने पूरे राष्ट्र को सन्देश दिया।

हम यहाँ एक स्थायी प्रदर्शनी बनाना चाहते हैं, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश और भारतीय संस्कृति के उच्च तत्त्वों को प्रदर्शित किया जा सके। हमारी अभिलाषा है कि इसे एक ऐसा केन्द्र बनाया जाए, जहाँ से स्वामीजी के जीवनदायीन सन्देश को पूर्णाकार चित्रों, सुन्दर तैलचित्रों, मॉडलों, वीडियोग्राफ और फिल्मों द्वारा प्रचारित किया जाए।

यह भवन १८४२ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान निर्मित हुआ था और सबसे पहले तो इसका समुचित जीर्णोद्धार आवश्यक है। इस परियोजना में लगभग १.५ करोड़ रुपयों की लागत आयेगी। इसका कार्य शीघ्र ही आरम्भ होने जा रहा है, अत: आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद तथा विवेकानन्द-अनुरागियों की कृतज्ञता के भाजन बनें। इस प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट कृपया 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका
स्वामी गौतमानन्द